१

आत्मधर्म

मासिक : वर्ष-१९ * अंक-१२ * अगस्त-२०२५

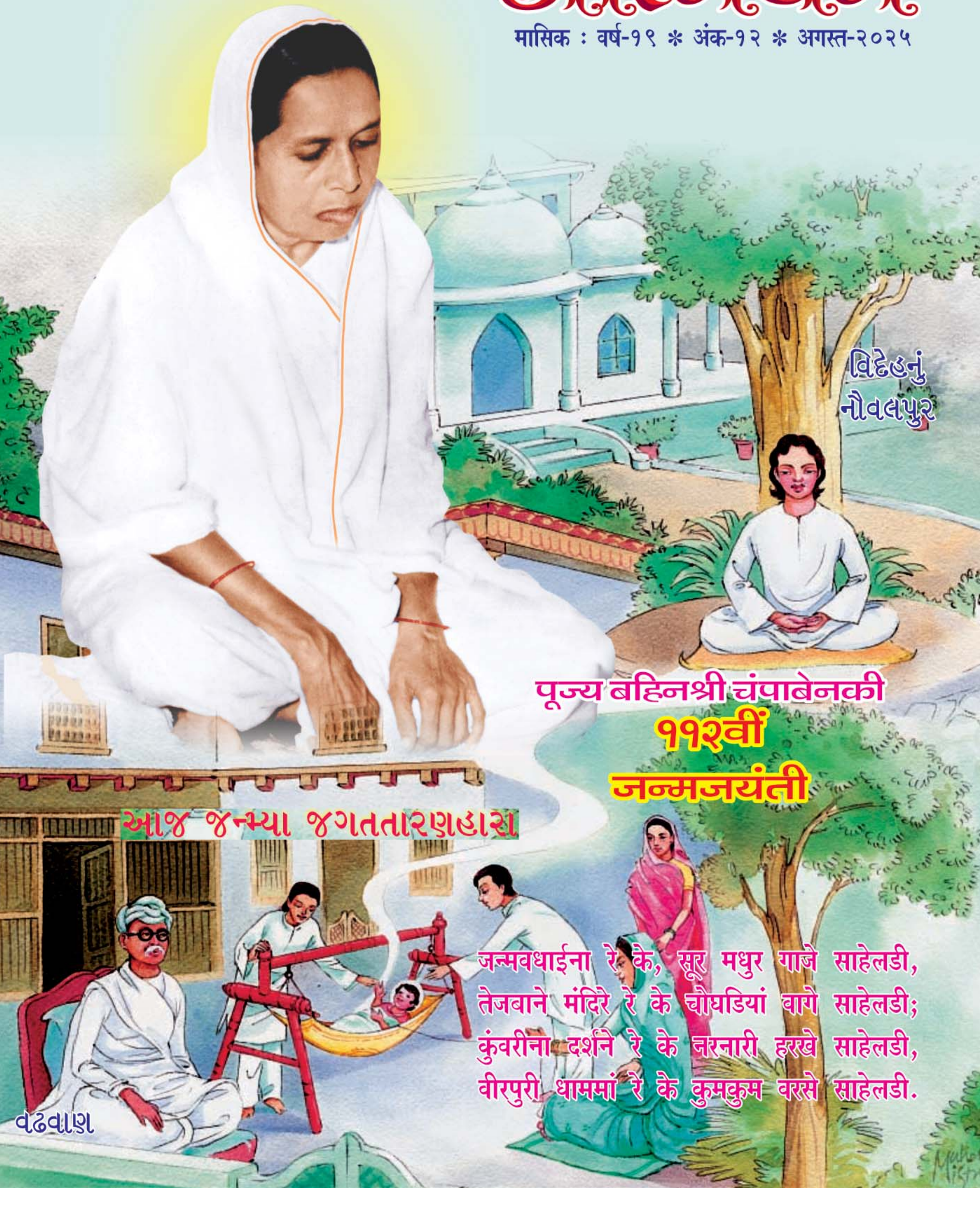

आगम महासागरके अमूल्य रत्न

● जिस प्रकार सहकारिताके साथ घड़ा उत्पन्न करने पर भी कुम्हार कभी घड़ारूप होता नहीं है, उसी प्रकार सहकारिताके साथ कषायादि करने पर भी जीव कभी कषायादिरूप होता नहीं ।११०।

(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, श्लोक ५७-५८)

● जिस प्रकार कीचड़ और जल दोनों एकमेक होने जैसे मालूम पड़ते हैं परन्तु शुद्ध जलकी तरफ ही लक्ष्य करने पर कीचड़ लक्ष्यगत होता नहीं, कारण कि वास्तवमें जल, कीचड़से भिन्न है, उसी प्रकार जीव भी नव तत्त्वोंमें एकमेक जैसा मालूम पड़ता है परन्तु शुद्ध जीव इन नव तत्त्वोंसे वास्तवमें भिन्न है।१११।

(श्री राजमल्लजी, पंचाध्यायी भाग-२, गाथा-१६६)

● ''बन्ध हो या न हो (अर्थात् बन्धावस्थामें या मोक्ष अवस्थामें) समस्त विचित्र मूर्तद्रव्यजाल (अनेकविध मूर्तद्रव्योंका समूह) शुद्ध जीवके रूपसे व्यतिरिक्त है'' ऐसा जिनदेवका शुद्ध वचन बुध पुरुषों कहते हैं। इस भुवनविदितको (इस जगतप्रसिद्ध सत्यको) हे भव्य! तू सदा जान ।११२। (श्री पद्मप्रभमलधारीदेव, नियमसार टीका, श्लोक-७०)

● जगतके प्राणिओ ! इस एक सम्यक् स्वभावका अनुभव करो कि जहाँ बद्धस्पृष्ट आदि भाव स्पष्टपनेसे उस स्वभावके ऊपर तैरते हैं तो भी (उसमें) प्रतिष्ठा पाते नहीं, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य है, अनेकरूप है, पर्यायें द्रव्यस्वभावमें प्रवेश करती नहीं, ऊपर ही रहती हैं। यह शुद्धस्वभाव सर्व अवस्थाओंमें प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभावका जगत मोहरहित होकर अनुभव करो, कारण कि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जहाँ तक रहता है वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ होता नहीं।११३। (श्री अमृतचंद्राचार्यदेव, समयसार-टीका, कलश-११)

● यद्यपि 'शरीर-सुख-दुःख, राग-द्वेष संयुक्त जीव' ऐसा कहा जाता है तो भी चेतनद्रव्य ऐसा जीव तो शरीर नहीं, जीव तो मनुष्य नहीं, जीव चेतनस्वरूप भिन्न है। भावार्थ यह है कि आगममें गुणस्थानोंका स्वरूप कहा है, वहाँ देहजीव, मनुष्यजीव, रागीजीव, द्वेषीजीव इत्यादि बहुत प्रकार कहे हैं, परन्तु वह सब कहना व्यवहारमात्र है, द्रव्यस्वरूपसे देखने पर ऐसा कहना झूठ है।११४।(श्री राजमल्लजी, कलशटीका, कलश-४०)

वर्ष-19
अंक-12

वि. संवत
2081
August
A.D. 2025

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शानेवाली मासिक पत्रिका

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी
११२ वीं जन्म-जयंति अवसर पर
मुमुक्षुओंके साथ हुई तत्त्वचर्चाके अंश

प्रश्न : पूज्य माताजी, आगममें कहा है कि सम्यक्त्वके लक्षणमें सात तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानका महत्व बताया है, तो उसमें इतना बड़ा क्या रहस्य है वह कृपा करके समझाओ कि जिससे हमें सम्यक्त्व रत्नकी महिमा जागृत हो ?

पूज्य बहिनश्री : सात तत्त्वोंकी श्रद्धामें आचार्यदेव ने जीव पदार्थको मुख्य कहा है। पर यह समझ सके ऐसा एक आत्मपदार्थ अर्थात् यह भी व्यवहारके साथ, व्यवहारमें सात तत्त्वोंका श्रद्धान। इसमें मुख्यतासे तो आत्माके ओरकी द्रव्यदृष्टि करना, ऐसा आचार्यदेवका कहना है। भूतार्थदृष्टिको ग्रहण कर। लेकिन ऐसी सात तत्त्वोंकी श्रद्धा बीचमें होती है। आचार्यदेव व्यवहारसे बात करें तो भी अंदरमें आत्माको ग्रहण करानेका आशय होता है। एक आत्माको ग्रहण कर। भूतार्थ तत्त्व एक हाजिर आत्मपदार्थ है इसको ही ग्रहण कर। इसके बीचमें ये सब सात तत्त्व–जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व, आस्रव, संवर, बंध, मोक्ष सब ही आ जाते हैं।

पुण्य, पाप यह सब तो साधक दशा प्रगट करना है तो बीचमें विघ्न हैं। विघ्न नहीं ? यह संवर होता है, इसमेंसे निर्जरा होती है। विशेष शुद्धि होती है तो निर्जरा होती है। अमुक (अंश)में शुद्धि हो तो वह संवर होता है, वह पूर्ण शुद्धि होता है तो मोक्ष होता है। पूरी साधक दशा और मोक्ष ही साध्य। यह ही आचार्यदेव बता रहे हैं। भूतार्थदृष्टिसे भूतार्थनयको मुख्य कर। एक मुख्य चैतन्य द्रव्यको मुख्य करके इसमें जो ये पर्याय होती है यह उसमें आ जाती है। आचार्यदेव हमें मुक्तिका मार्ग बता रहे हैं। आचार्यदेव व्यवहारसे ऐसा कह कर समझाते हैं। एक जीव तत्त्वको ग्रहण करना, और ये जैसे है वैसे हैं। जो है वह व्यवहार अर्थात् व्यवहार

बिल्कुल नहीं ऐसा नहीं है। आचार्यका एक एक शब्द जो होता है वह तत्त्व ग्रहण करनेको कहता है। यथार्थ युक्तिसे मार्ग ग्रहण करनेको कहता है। आचार्यदेव जो कहते हैं यह व्यवहार तद्दन असत्य है ऐसा नहीं होता। आचार्यदेवने जो सत्य कहा है वह सत्य ही होता है। मात्र निश्चयनयकी अपेक्षासे है कि व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। यह आत्मा ही पहले समझना जरूरी है। आचार्यदेवने पूरा मुक्तिका मार्ग समझाया है। मुख्य आत्मा है उसे ग्रहण कर। जीव तत्त्वको ग्रहण कर, बादमें इसमें सब पर्यायें होती हैं उनका ज्ञान कर। मुख्य एक आत्माको ग्रहण कर यथार्थ मूलभूतसे, तो यथार्थ तेरी साधना होगी। इसलिए यथार्थ ज्ञान कर और दृष्टिको मुख्य जीव द्रव्यके ऊपर कर ऐसा कहनेका आशय है।१।

● प्रश्न : सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ तो श्रद्धा गुण निर्मल हुआ, शेष गुणोंमें अशुद्धता है?

पूज्य बहिनश्री : 'सर्व गुणांश वह सम्यग्दर्शन'। श्रद्धागुण प्रगट हुआ, तो उसमें सम्यग्दर्शन हुआ। उसके साथमें ज्ञान, चारित्र सब प्रगट हुआ, ज्ञानका सम्यक्-रूप परिणमन हुआ, चारित्र जो अमुक अंशमें चारित्र-स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ। जो दिशा पर तरफ थी, वह परसन्मुख था, दृष्टि परसन्मुख थी, वह स्वसन्मुख आयी। वहाँ प्रत्येक गुण जो यथायोग्य निर्मल होने योग्य थे वह सब निर्मल हो गये। यह एक तरफ पूरी अशुद्धता और एक तरफ शुद्धता, ऐसा द्रव्यमें खंड नहीं होता। द्रव्य तो अखंड है। इसलिए एक सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हुआ इसके साथ सबकी दिशा पलट गई तो सब निर्मल हो गये। जो अशुद्ध थे, सब निर्मल हो गये। कितने ही गुण मलिन होते ही नहीं हैं। जो मलिन होते हैं, सब अंशों अंश निर्मल हो गये। पूर्ण निर्मल तो केवलज्ञान होगा तब होंगे।२।

● प्रश्न : अनादिका मिथ्यादृष्टि है इसको रागका ही स्वभाव वर्तता है। ज्ञायकका ज्ञान नहीं वर्तता तो इसका क्या करना चाहिये?

पूज्य बहिनश्री : प्रयत्न करके जानना चाहिये। रागके ज्ञानसे पृथक् होकर अपना पुरुषार्थ करे, स्वयं ही स्वसन्मुख अपनी दिशा झुकानी चाहिये। अनादिका जो अभ्यास है उसमें चला जाता है। अंतरमें नहीं पहिचानता अर्थात् अकेले रागका ज्ञान वर्तता है। स्व तरफ अपना उपयोग करके स्वकी ओर झुकाना चाहिये, तो जाने। दिशा फेरना चाहिये। पलटा करना चाहिये तो जाने। दिशा नहीं बदलता। एककी एक दिशामें चला जाता है उसका पलटा करना चाहिये। एक दिशामेंसे चलने वाला मनुष्य एक उलटी दिशामें चला जाता है। पलटा करे तो आप स्वयं दूसरी दिशामें पलट सकता है। गुरुदेवने तो बहुत बताया है कैसी दशा? किस तरफ झुकना यह बताया? पर झुकना अपने हाथकी बात है।३।

● प्रश्न : श्रद्धा हुई यह जैनदर्शनकी पराकाष्टा है, तो आचार्य भगवान ने जब तक भेदविज्ञान न हो तब तक आत्माको रागादिभावोंका कर्त्तापना मानना। ऐसा फरमाया है तो दृष्टि और ज्ञान यह दोनोंके विषय भिन्न-भिन्न होते है तो हमें किस प्रकार श्रद्धा करना ?

पूज्य बहिनश्री : दृष्टि और ज्ञानका विषय भिन्न-भिन्न नहीं है। आत्मा अकर्त्ता। परका अकर्त्ता है, स्वभावका कर्त्ता है, पर-रागादिका अकर्त्ता है। जब इसको द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई तब यह रागादिका अकर्त्ता है, पर अल्प अस्थिरता रहती है वह इसके जानने योग्य है। यह कर्त्ता, इसको स्वामीत्वबुद्धि नहीं, यह कर्त्ता नहीं, परद्रव्यका कर्त्ता नहीं। पर यह अज्ञान अवस्थामें कर्त्ताबुद्धि इसने मानी है। वास्तविक रीतिसे तो ये पर पदार्थका कर्त्ता नहीं। रागादिका कर्त्ता यह द्रव्यदृष्टिसे नहीं, पर यह रागादिका कर्त्ता अज्ञान अवस्थामें है। इसलिए दृष्टि अपेक्षासे कर्त्ता नहीं। पर ज्ञानमें जानना। ज्ञान दोनोंको विषय करता है। ज्ञान द्रव्यको भी जानता है और ज्ञान पर्यायको भी जानता है। दोनोंको विषय ज्ञान करता है, ज्ञान दोनों नयोंको जानता है। दोनों पहलुओं (पक्ष)को जानता है।४।

● प्रश्न : ज्ञायक, ज्ञायकको पहिचाननेका प्रयत्न करता है कि 'यह जाननेवाला वह मैं हूँ' पर उसके साथ, साथ ही मैं परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण आनंद, यह वर्तमानमें मैं पूर्ण हूँ यह जब तक इसकी भावनामें ना आये तब तक वास्तविक भेदज्ञान हो नहीं सकता ?

पूज्य बहिनश्री : 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा इसे परिपूर्ण ख्यालमें आता है। स्वभाव पूर्ण है पर पर्याय प्रगट नहीं हुई। स्वभाव पूर्ण है। इसे ख्यालमें रह जाता है कि 'मैं स्वभावसे पूर्ण हूँ,' कोई अंश या कुछ भी मेरेमेंसे नाश नहीं हुआ। मैं स्वभावसे पूर्ण हूँ ऐसा ख्याल रहता है। 'मैं परिपूर्ण स्वभावसे, मैं गुणोंसे भरा हूँ।' पर यह गुण प्रगट नहीं हैं। अनंत गुण इसके ख्यालमें नहीं आये पर इनकी महिमा कर—इनकी महिमा अंदरमें आना चाहिये। ऐसी महिमा अर्थात् 'मैं पूर्ण स्वरूप हूँ' मैं पूर्ण हूँ।' ऐसे ख्यालमें आये, इस तरहकी एक प्रतीति हो, जिससे बादमें पूर्णता होती है। पर यह प्रतीति ज्ञायक तरफकी हो, ऐसी प्रतीति होना चाहिये। इस लक्षणसे एक ज्ञायकको देखा इस ज्ञायकके अंदर पूर्णता और इसकी महिमा अनंततासे भरपूर। यह सब साथमें आ जाता है। इसे विकल्प नहीं रहता, सब साथमें ही आ जाता है।५।

● प्रश्न : सच्चा पुरुषार्थ होना चाहिये ?

पूज्य बहिनश्री : स्थिरताके लिए तो बारम्बार ज्ञायककी धाराकी उग्रता करे। ज्ञाताधाराकी उग्रता करे तो स्थिरता होवे। ज्ञायक धाराकी उग्रता। बादमें यह तो विशेष स्थिरतासे उसकी भूमिका भी पलट जाती है। चौथे गुणस्थानमें जो स्थिरता होती है उससे विशेष

पंचम गुणस्थानमें विशेष स्थिरता होती है तो इसे उससे विशेष छठ्ठे-सातवेमें होती है। छठ्ठे-सातवे गुणस्थानमें उससे विशेष अंतर्मुहूर्त अंतर्मुहूर्तमें आत्मामें उपयोग स्थिर हो जाता है, अंतर्मुहूर्तमें बाहर आता है, अंतर्मुहूर्तमें अंदर जाता है, अंतर्मुहूर्तमें बाहर आये तो अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्तमें उपयोग स्थिर हो जाता है छठ्ठे-सातमे गुणस्थानमें। इसका पुरुषार्थ क्या ? ज्ञाताधाराकी उग्रता हो तो भूमिका पलट जाती है। विशेष स्थिरता होती है तो चौथे गुणस्थानमें अमुक तरहकी स्थिरता होती है।६।

● प्रश्न : संसारमें रहकर भी आत्माकी स्वानुभूति किस प्रकार करें ?

पूज्य बहिनश्री : संसारमें रहकर आत्माकी स्वानुभूति—यह संसारमें रहकर आंशिक मुक्ति हो सकती है। पश्चात् संपूर्णता प्राप्त करनेके लिये उसको बाह्यत्याग भी आ जाता है। संसारमें रहकर पूर्ण मोक्ष नहीं होता है लेकिन आत्माकी पहिचान हो सकती है । आत्माकी स्वानुभूति होती है। आत्माका ज्ञान होता है, अर्थात् तब तक होता है। भवका अभाव होता है। सिद्ध भगवान समान आंशिक अनुभूति होती है, लेकिन उसको मोक्ष—पूर्ण मोक्ष-केवलज्ञान होता नहीं है । बाह्यसे सबकुछ त्याग हो जाता है, मुनि हो जाय तब पूर्ण मोक्ष होता है। प्रत्येक प्रसंगमें परिणति—शुद्ध परिणति—ज्ञायककी परिणति निरंतर चालु ही है, ज्ञायकको भूलता नहीं है।७।

● प्रश्न : सामान्य ऊपर दृष्टि और भेदज्ञानमें क्या अंतर है ? यह कृपा करके समझाईये ?

पूज्य बहिनश्री : जिसकी सामान्य ऊपर दृष्टि गई कि मैं सामान्य एक वस्तु—इसमें भेद पर दृष्टि नहीं। दृष्टि तो एक अखंड़ द्रव्य ऊपर है। अपने अस्तित्व ज्ञायक ऊपर दृष्टि है, पर यह दृष्टिके साथ भेदज्ञान होता है। दृष्टि और ज्ञान साथमें होते हैं। एक सामान्य पर दृष्टि अर्थात् विभावसे पृथक् हो गया। अपनेमें जहाँ दृष्टि गई, तो विभावसे पृथक् हो गया। दोनों साथ साथ ही रहते हैं। अपने सामान्यको ग्रहण करे अर्थात् अस्तित्वको ग्रहण किया वहाँ दूसरेसे नास्ति इसके साथमें आ जाती है। अपना ग्रहण किया अर्थात् 'मैं विभावसे भिन्न हूँ'—ऐसा साथमें आ जाता है। दृष्टि कहीं भेद नहीं करती पर ज्ञान सब जानता है। ज्ञानमें सब आ जाता है। 'मैं यह विभावसे भिन्न अर्थात् मेरे चैतन्यका अस्तित्व पृथक् है'—ऐसी दृष्टि और ज्ञान दोनों साथ ही होते हैं। दृष्टि एक सामान्यको ग्रहण करती है, ज्ञान दोनोंको ग्रहण करता है। दोनों साथ साथ होते हैं। जिसकी दृष्टि सम्यक् हुई, उसका ज्ञान सम्यक् हुआ। दोनों साथ रहते हैं।८।

● प्रश्न : ज्ञानमें पहिचाना उस द्रव्यको ही दृष्टि मुख्य करती है ?

पूज्य बहिनश्री : इसमें ही दृष्टिको स्थिर करता है इसके ही ज्ञानमें जाननेके बाद दृष्टिकी

प्रतीतमें एकको स्थिर करता है कि यह ही वस्तु है। इसके ऊपर स्थिर होकर दृष्टिको इसके ऊपर रखकर आगे जाता है। यह वस्तु है इसके ऊपर दृष्टिका जोर आता है। अर्थात् इसमें दूसरा सब गौण हो जाता है। भेद...यह चारों तरफ नजर किया करे तो इसमें आगे (नहीं जा सके) एक ध्येय बनाए कि—इस दृष्टिसे एक द्रव्यको ग्रहण किया। बादमें इसमें सब क्या क्या है और किस प्रकार आगे जा सके—यह ज्ञान जानता है। यह दोनों साथमें होना चाहिये। दृष्टिको मुख्य इसलिए कहनेमें आती है कि ज्ञान जानता है, पर एक वस्तुमें स्थिर न करे। प्रतीतिमें दृढ़ता न लाए कि यह एक वस्तु है। इसे साधनेके लिए इसके ऊपर दृष्टि स्थिर न हो तो आगे जानना नहीं होता। इसलिए दृष्टि मुख्य है। पर इसमें, ज्ञानमें यह सब न जाने कि वस्तु क्या है? पर्याय क्या है? विभाव क्या है? साधकदशा क्या है? और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्या है? यह नहीं जाने तो आगे नहीं जा सकता। एक-एक दृष्टि स्थिर हुई अब, ऐसाका ऐसा चलता रहे? ऐसा नहीं चलता। वस्तु-मार्गको जाने विना चारों तरफसे आगे नहीं जा सकता। दूसरा निषेध करे इसमेंसे इसे निषेध करे कि 'मैं एक अनादिका, शुद्धात्मा हूँ और अब इसमें कुछ ही नहीं। दूसरा अब कुछ नहीं करना'। यह इसप्रकार आगे नहीं जा सकता। ज्ञान विभावका विवेक, विभाव-स्वभावका न करे तो आगे नहीं जा सकता।९।

● प्रश्न : अनुभव करनेका काम प्रज्ञा ही करती है?

पूज्य बहिनश्री : प्रज्ञा करती है। 'राग वह मैं नहीं, ज्ञान वह मैं हूँ, यह ज्ञायक वह 'मैं' हूँ, यह विभाव वह 'मैं' नहीं। यह परद्रव्य वह 'मैं' नहीं, यह मेरे स्वभाव नहीं, यह जो पर्याय क्षण क्षणमें होती है, अंश जितना मैं नहीं, 'मैं' त्रिकाली हूँ, यह अंश होती है यह चैतन्यकी पर्याय है तो भी 'अंश जितना भी मैं नहीं, शाश्वत हूँ' यह सब ज्ञान विवेक करता है। श्रद्धाका बल यह ही 'मैं' हूँ। श्रद्धाके साथ ही होता है। भेदज्ञान करके अंदर श्रद्धा, ज्ञानके साथ अंदर लीनता करती है उसे स्वानुभूति कहते हैं। पर यह सब प्रज्ञा-प्रज्ञा ही कहलाती है। अभेद अपेक्षासे सब प्रज्ञामें आ जाता है।१०।

● प्रश्न : ज्ञानधारा तो निर्विकल्परूपसे ही काम करती है?

पूज्य बहिनश्री : जैसे श्रद्धा काम करती है वैसे ज्ञानधारा भी तुरंत काम करती है। उसे विकल्प उठाना नहीं पड़ता। ज्ञानधारा भी निर्विकल्परूपसे काम करती हैं। श्रद्धा भी ऐसे ही काम करती है। निर्विकल्प अर्थात् स्वानुभूतिकी निर्विकल्पता नहीं, पर यह इसकी परिणति है इस प्रकारकी इसे रागका विकल्प कर करके रखनी पड़े ऐसा नहीं। जैसे एकत्वबुद्धिकी परिणति सहज है और कहीं विकल्प करके रखना नहीं पड़ती। यह तो सहज है अनादिकी,

एकत्व और विकल्प करके इसे रखनी नहीं पड़ती। यह तो विकल्पसे जुड़ा है ऐसाका ऐसा रहता है। ज्ञानधारा भी ऐसी की ऐसी सहज हो जाती है, इसे विकल्प करके रखनी नहीं पड़ती। यह अपना स्वभाव है इसलिए यह तो सहज ही है लेकिन स्वयं यह सहज नहीं परिणमन करता इसलिए सहज नहीं होता। कर्तृत्वबुद्धिका रस रहता है इसलिए स्वयं सहज नहीं परिणम सकता। इसलिये इसमें सहज ज्ञानधारा है। जैसी एकत्वधारा जिसमेंसे भेदज्ञानकी धारा हुई तो उस ओर उदय-धारा और ज्ञानधारा दोनों चालू है। सहज हो जाती है।११।

● प्रश्न : जाननहारकी पर्यायको भी करना नहीं ऐसा कहते हैं। इसका जाननहार हूँ, ऐसा न?

पूज्य बहिनश्री : जाननहारकी पर्यायका भी तू जाननहार ही है। अर्थात् इसमें 'व्यवहार नहीं' ऐसा कहनेका आशय नहीं लेकिन वस्तुदृष्टि कराना है। वस्तुका मूल स्वरूप बताते हैं। अर्थात् कि पर्याय आत्मामें नहीं ऐसा नहीं। वह जाननेकी पर्याय इसमें नहीं होती ऐसा नहीं है। यह सब व्यवहार है। पर दृष्टि तो मूल वस्तुके स्वरूपको बताती है। यदि अकेला ऐसा हो तो फिर बंधके विभावभाव होगे ही नहीं। तब अकेली मोक्ष की पर्याय ही हो। यदि ऐसा हो तो यह जाननेका स्वभाव जो दिखता है यह भी इसमें जान सकता ही नहीं। यदि जाननेका कोई भाव ही न हो तो यह सब पर्याय हैं जाननेवाली। किससे आई ? दृष्टि तेरे स्वकी ओर ऐसा कहना है। स्वपरप्रकाशक स्वभाव है, लेकिन दृष्टि तेरे द्रव्य ऊपर कर ऐसा कहना है। आचार्यदेव, गुरुदेव सब एक ही कहते हैं कि तू दृष्टि शुद्धात्मा ऊपर कर। वह तेरा स्वभाव है। इसमें पर्याय होती हैं। साधकदशा इसमें होती है। स्वपर प्रकाशक तेरा स्वभाव है। लेकिन दृष्टि तू पर ऊपरसे हटाकर एक अखंड ज्ञायक पारिणामिकभाव ऊपर कर। पारिणामिकभाव अर्थात् एक भाव ऊपर ऐसा नहीं, लेकिन एक अखंड द्रव्य ऊपर दृष्टि कर ऐसा कहना है।१२।

● प्रश्न : सत्संगका माहात्म्य क्या है ?

पूज्य बहिनश्री : यह अपनी प्रतीति—अंदर से विचार करे, निर्णय करे, 'यह स्वभाव वह मैं और विभाव स्वभाव वह मैं नहीं।' ऐसा यथार्थ जैसे बाहरमें प्रतीति करता है ऐसा दृढ़ चिंतन करना पडेगा। कोई निर्णय करना हो, किसी मनुष्यकी परीक्षा करना हो तो जो विचार करके जैसा निश्चित करते हैं कि बाहरकी आवश्यकता जाने कि इससे हमको यह लाभ है तो इसकी दुकान कैसी है ? इसमें लाभ है ? तो परीक्षा करके निश्चित करता है। ऐसे अपनी परीक्षासे निश्चित करे कि यह मेरा स्वभाव है, विभाव मेरा स्वभाव नहीं, ऐसे यथार्थ पहिचान करे, प्रतीति करे, तो स्वतः पूर्ण आत्मा तक पहुंच सकता है। स्वतः आत्मा ही है, अनंत शक्तिसे भरा हुआ है।१३।

परमागम श्री प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन

(गाथा ७०-७१ के प्रवचनमेंसे)

शुभोपयोगका फल इन्द्रिय सुख

गाथा ७०में आगे कहते हैं कि जो जीव शुभ और अशुभमें भेद करते है वे अनंत संसारमें परिभ्रमण करते है। शुभोपयोग धर्मका घातक है ऐसा यहाँ बतलाया है।

आत्मामें दया, दान, व्रत, पूजा, भक्तिके भाव होता है वह शुभोपयोग है जिससे इन्द्रिय-सुख प्राप्त होता है लेकिन आत्मधर्म होता नहीं है। जो जीव पंचमहाव्रतका पालन करता है, देव-गुरु-शास्त्रकी पूजा, भक्ति करता है वह मरकर युगलिया तिर्यंच होता है, कोई बड़ा राजा होता है, शेठ होता है, अथवा कोई देव होता है। शुभभावसे बाह्य पदार्थोंके संयोग मिलते हैं लेकिन धर्म या पारमार्थिक सुख होता नहीं है और वह भी उसका आयुष्य होता है उतना समय संयोगरूप रहता है। जैसे शुभभाव क्षणिक और पलटता रहता है वैसे उसके फलरूप सामग्री भी क्षणिक और पलटती रहती है। इस परसे निश्चित होता है कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति शुभोपयोगका फल संसार है। आत्मधर्म नहीं है।

इन्द्रिय सुख वह दुःख ही है।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकर प्रभुके उपदेशमें ऐसा निश्चित है कि देव जो पुण्यमें श्रेष्ठ है (अल्प पुण्यवाले मनुष्यादि इसमें आ जाते हैं) उसे स्वाभाविक अर्थात् आत्मसुख नहीं है। वे भी पांच इन्द्रियमय शरीरकी वेदनासे दुःखी हो रहा है, इसलिये रम्य विषयोंमें रमण करता है।

देवोंको वैक्रियिक शरीर है। उनके शरीरमें रोग होता नहीं है, बुढ़ापा आता नहीं है तदपि शारीरिक वेदनासे पीड़ित है। अप्सराको नचाते है, वाजिंत्र बजवाते है, विमानमें बैठकर घूमने जाते है—इस प्रकार पांच इन्द्रियके विषयोंको देखनेमें, सुनने आदिमें लीन होकर आकुलताका सेवन कर रहे हैं। जैसे कोई दुःखी जीव दुःखसे त्रस्त होकर पहाड़के शिखर परसे कूद जाता है वैसे देवों भी पृथक् पृथक् मनोज्ञ विषयोंकी ओर दौड़ रहे हैं, वह ही आकुलता और दुःख है।

श्री अरनाथ जिन-स्तुति

तुम यमविजयी लख हो उदास,
निज कार्य करन समरथ न तास।९३।

श्री स्वयंभू-स्तोत्र

जहाँ ऐसे सुंदर वैक्रियक शरीर और पुण्यकी सामग्रीका पुंज होने पर भी देव दुःखी है तो उससे अल्प पुण्यवाले अज्ञानी मनुष्यों कि जिसे औदारिक शरीर–कि जो क्षणभरमें बिमार हो जाय, ठीक हो जाय और वृद्ध हो जाय ऐसा है–और सामग्री भी पुण्यके अनुसार अल्प है वह तो विषयोंकी प्राप्तिकी आकुलताके कारण दुःखी ही है।

सम्यग्दृष्टि इन्द्र भगवानकी कांतिके पुंजको रत्नसमान बाल शरीरको हजारों नयनसे हजारों बार देखे फिर भी तृप्त होते नहीं है। उसका वह भाव पुण्यभाव है, उसका भी उसे आदर नहीं होता है। उनकी दृष्टि स्वभाव पर ही है। जब कि अज्ञानीकी दृष्टि शरीर और पुण्य पर है। दोनोंमें बड़ा अंतर है। 'एकांत सुखी मुनि वीतरागी' धर्मात्मा और मुनिओं सुखी है।

जो जीव मात्र शुभोपयोगमें लीन होकर शुभको धर्म मानता है उसे इन्द्रिय सुख मिलता है अर्थात् कि दुःखी होता है। नियमसारमें कहा है कि स्वयंका चैतन्य द्रव्य तो अभेद है तदपि जो जीव ज्ञान, दर्शन आदि (गुण-गुणी)के भेद करके शुभरागमें ठहरता है उस जीवको मुक्ति होती नहीं है। उसे धर्म होता नहीं है और उसे जैनदर्शन नहीं है। अभेद अंतरस्वभावकी रुचि वह ही धर्म है।

इन्द्रिय सुख वह दुःख है ऐसा नक्की करके इन्द्रियसुखके साधन पुण्यको उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोग और दुःखके साधनभूत पापको उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोग वह दोनों समान है ऐसा ७२वीं गाथामें कहा है।

मनुष्यों, नारकीके जीवों, तिर्यंचों और देवों सभी शरीर संबंधी दुःखका ही अनुभव करते हैं। तो शुद्धोपयोगसे विरुद्ध अशुद्धोपयोगके दो भेद किस प्रकार है ? अर्थात् शुभ और अशुभमें कोई भेद नहीं है। जैसे १०५ डिग्री बुखार और १०२ डिग्री बुखार दोनों बुखार ही है वैसे शुभ और अशुभ दोनों अशुद्धके भेद होनेसे उसमें कोई भेद नहीं है।

देवोंको पुण्यके फलरूप सामग्री होने पर भी विशेष सामग्रीकी वांछा, घूमना, फिरना आदि अनेक प्रकारकी आकुलताका सेवन करके शरीर सम्बन्धी दुःखी हो रहे हैं।

मनुष्यको भी पुण्यके फलरूप सामग्री होने पर भी शरीरकी अलग-अलग सुविधाएँ और उस हेतु अनेक प्रकारके साधनोंकी प्राप्तिकी आकुलता करके शरीर सम्बन्धी दुःखी हो रहा हैं।

हे धीर! आपका रूप सार,
भूषण आयुध वसनादि टार;

तिर्यंचको आहार, पानी समयसर न मिले, भार(वजन) आदि सहन करना पड़े–इस प्रकार पापके फलमें प्रतिकूल संयोगोंमें आकुलता करके शरीर सम्बन्धी दुःखी हो रहे है।

नारकीको अनाज, पानी बिलकुल मिलता नहीं है और गर्मी, शीत अधिक सहन करनी पड़ती है। इस प्रकार पापके फलमें प्रतिकूल संयोगोंमें आकुलता करके शरीर सम्बन्धी दुःखी हो रहे है।

इस प्रकार चारों गतिके अज्ञानी जीव अनुकूल और प्रतिकूल संयोगोंमें दुःखी हो रहा है, क्योंकि उनकी दृष्टि देह पर है। देहातीत ऐसे आत्मस्वभाव पर नहीं है। शुभ और अशुभ दोनोंके फलमें आकुलता और दुःख है इसलिये शुभ और अशुभभाव दोनों एक ही जातिके है। उनमें कोई अंतर नहीं है।

जो जीव मात्र शरीर सम्बन्धी, कुटुम्ब सम्बन्धी, अशुभभावमें लीन रहता है उसकी यहां पर बात नहीं है, वह तो यह वाणी सुननेके लायक भी नहीं है। किन्तु जो जीव अशुभकी भूमिकाको पार कर गया है और देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति-पूजा करता है, वांचन-श्रवण करता है ऐसे जीवको आचार्य भगवान कहते हैं कि ''शुभाशुभका फल आकुलता है इसलिये शुभको छोड़कर शुद्ध स्वभावका लक्ष्य करो।''

यहाँ पर देव, राजा, शेठ आदि सभी भिखारी है और नारकीके समान ही दुःखी है इस प्रकार बतलाकर शुभ वह धर्मका कारण नहीं और शुभ वह धर्मको मददरूप नहीं है इस प्रकार समझाते है, इसलिये शुभ और अशुभ दोनोंकी अलग व्यवस्था टिकती नहीं है अर्थात् दोनोंकी एक ही जाति है। अज्ञानी जीव चारों गतिमें पुण्य-पापके फलमें शरीर सम्बन्धी दुःखका ही अनुभव करते है, इसलिये शुभसे संसारमें सुख है और अशुभसे दुःख है यह बात रहती नहीं है। इसलिये ज्ञानतत्त्वकी अपेक्षासे दोनों भाव ज्ञानसे विरुद्ध है। ज्ञान-स्वभावमें पुण्य-पाप नहीं और पुण्य-पापमें ज्ञानस्वभाव नहीं है।

ऐसी निश्चयकी वाणी सुनकर कोई जीव स्वच्छंदी होकर कहता है कि शुभ और अशुभ दोनों बंध है तो अशुभ होय तो क्या फर्क पड़ता है ? हमें तो श्रद्धाके विषयकी अभी आवश्यकता है। आप हमको प्रथम आसक्ति छोड़नेका उपदेश देते हो तो वह तो श्रद्धा होनेके पश्चात आती है। अभी तो दृष्टिके विषयका पठन कराईये ! तो उसे कहते हैं कि ऐसा अज्ञानी

विद्या दम करुणामय प्रसार,
कहता प्रभु दोष रहित अपार।९४।

जीव निश्चयकी वाणी सुननेसे पूर्व भी मिथ्यात्वका ही पोषण कर रहा था लेकिन सुननेके पश्चात्–अशुभकी रुचिसे तीव्र अशुभभावका पोषण कर रहा है। अर्थात् वह दुगुने पापका पोषण कर रहा है। धर्मश्रवणके समय जिस जीवका उपयोग ज्ञानकी वाणी ओर नहीं लेकिन संसारके विषयोंकी ओर है वह पूर्ण स्वच्छंदी है। जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमाके सामने बेठा हो तब विषयके परिणामकी तीव्रता जो जीव करता है वह महापापी है।

''गुरुके विनय समय अशुभभाव हो तो क्या आपत्ति है ? शुभ और अशुभ दोनों ज्ञानस्वभाव नहीं ऐसा तो आप भी कहते हो।'' ऐसा कहनेवाले जीवको निमित्तका भी विवेक नहीं है। व्यवहार विनयका भी जिसे विवेक नहीं उसे निश्चयका विवेक कहांसे आयेगा ? जिसने शुभ और अशुभ निमित्तोंमें अंतर किया नहीं है, वह निमित्त और उपादानमें अंतर कहाँसे कर सकेगा ? जो जीव अशुभसे खिसककर शुभमें आता नहीं वह अशुभसे खिसकर सीधा शुद्धमें आ सकता नहीं है। वह जीव शुभभाव और यथार्थ देव-गुरु-शास्त्रको समझता नहीं है। ज्ञानीकी और उनकी वाणीका निरादर कर रहा है वह नरक-निगोदका कामी है।

आत्मा ज्ञानप्रकाश है वहाँ कहीं पर भी अंधकार नहीं है। आँख छोटेसे तिनकेको रहने नहीं देती। उस प्रकार यह सत्य धर्मका पंथ है। पोपाबाईका राज नहीं, किंचित्मात्र दोष नहीं चलेगा।

अज्ञानी जीव क्रमबद्धके नाम पर स्वच्छंदता का पोषण कर रहा है, जो जीव शुभकी रुचि करता है उसको तो क्रमबद्धका निर्णय नहीं है। तो फिर अशुभकी रुचि करता है उसे क्रमबद्धका निर्णय कहाँसे होगा ? वह तो तीव्र मिथ्यात्व और पापका पोषण कर रहा है। अनंत संसारी है। इस प्रकार मुमुक्षु जीवोंको ज्ञानीकी वाणी एकाग्रचित्तसे बहुत विनयपूर्वक सुनना चाहिये।

गाथा ७२में ऐसा कहा है कि शुभ और अशुभके फलमें चारों गतिके अज्ञानी जीव दुःखी हो रहे हैं। इसलिये परमार्थसे शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद घटित होते नहीं है। इस गाथामें शुभोपयोगके फलरूप पुण्यका स्वीकार करके शुभोपयोगकी निंदा करते हैं।

इन्द्रको पुण्यके फलरूप इन्द्राणीयाँ, विमान आदि सुखरूप सामग्री प्राप्त होती है। चक्रवर्तीको ९६ क्रोड़ पैदल सेना, रानियाँ आदिकी प्राप्ति होती है और वे पदार्थका उपभोग

(शेष देखे पृष्ठ २१ पर)

तेरा वपु भामंडल प्रसार,
हरता सब बाहर तम अपार;

श्री इष्टोपदेश पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

प्रवचन नं.-४१ (गाथा-३७)

भगवानमें राग नहीं है, रागमें भगवान नहीं है

श्री इष्टोपदेश शास्त्रकी यह ३७वीं गाथा चल रही है।

जिन्हें सर्व परपदार्थसे भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व संपन्न अनंत गुणसंपन्न स्वयंके आत्माकी दृष्टि और अनुभव हुआ है वह स्वयंका कार्य स्वयंके अनंतगुणोंसे होता है ऐसा जानते हैं इसलिये कोई परपदार्थ मेरा कार्य करते है ऐसा वह मानता नहीं है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मुझे जो राग होता है वह पर निमित्तसे होता है और मेरे निमित्तसे परका कार्य होता है ऐसी जिसे पराश्रयदृष्टि है उसे आत्मा स्वतंत्र है और स्वयंके अनंत गुणोंसे उसका कार्य होता है यह बात उसकी रुचिमें आती नहीं। किन्तु जिसने अंतर अनुभव द्वारा आत्माकी प्रतीत की है उसे दृढ़ श्रद्धा है कि मैं अनंत ज्ञान, आनंद, सुख, शांति आदि अनंत गुणोंका भंडार है और मेरा आनंद आदिका कार्य मुझसे ही होता है–ऐसा जानता होनेसे ज्ञानीको परमें कदापि सुखबुद्धि होती नहीं है और परके पाससे कार्य करानेकी पराधीन दृष्टि होती नहीं है।

इसप्रकार धर्मीको-योगीको संपत्तिमें अर्थात् स्वानुभवरूप संवेदनमें शुद्ध आत्माका स्वरूप झलकता है। श्रद्धामें आत्मा झलकता है, ज्ञानमें आत्मा झलकता है और स्थिरतामें आत्मा कैसा शांतिमय है उसकी झलक आ जाती है। धर्मी तो उसे कहते है कि जिसने स्वयंके शुद्ध स्वभावरूप धर्मके धारक आत्माको श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतामें अनुभव किया है।

जहाँ तक स्वयंके वस्तुका स्वरूप प्रतीतिमें और विश्वासमें नहीं था तब तक तो मेरा ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है, मेरा सुख और आनंद परमें है और मेरे वीर्यकी स्फूरणा भी परसे होती है ऐसी पराश्रित दृष्टि थी। अब वह दृष्टि पलटने पर मैं पुण्य-पाप स्वरूप हूँ और मुझे परका आधार है, मेरा विकास परके आधीन है और पर मेरे आधीन है ऐसी मिथ्याबुद्धिका नाश हुआ और आत्मा अशुद्धरूप जाननेमें आता था वह अब शुद्धरूप जाननेमें आता है–

तव ध्यान तेजका है प्रभाव,
अंतर अज्ञान हरै कुभाव।९५।

झलकता है। अब वह ज्ञाता-दृष्टा हुआ है इसलिये मेरा कार्य पर करता है और मैं परका कार्य करता हूँ ऐसी मिथ्याबुद्धि होती नहीं है।

धर्मीको जैसे जैसे शुद्धात्मस्वरूप स्वयंके श्रद्धा-ज्ञान और अनुभवमें झलकता है वैसे वैसे बिना प्रयत्न—सहज प्राप्त हुए रमणीय इन्द्रिय विषयों भी मेरे भोग्य है ऐसी बुद्धि होती नहीं है। शुद्ध ज्ञायक जिसकी दृष्टिमें आया उसे कोई भी परपदार्थ स्वयंके भोगनेयोग्य भासते नहीं है। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, देवलोक, इन्द्राणी, मकान, गहने, कपड़े आदि मेरे भोग्य है ऐसी बुद्धि धर्मीको होती नहीं क्योंकि उसे स्वयंका आत्मा भोग्य हो गया है।

परपदार्थ तो धर्मीको भोग्य लगते नहीं है लेकिन पुण्य, पुण्यका फल और वर्तमान शुभ विकल्प भी स्वयंके भोग्य योग्य लगते नहीं है उसे भोग्य स्वयंका ज्ञान, दर्शन, आनंद, स्वच्छता, प्रभुता, आदि गुणों ही भोग्य लगते है। इसलिये बाह्यमें पुण्ययोगसे सहजमें प्राप्त रमणीय इन्द्रिय विषयोंमें भी उसे भोग्यबुद्धि होती नहीं है।

जिन्हें स्वयंके अनंत गुणस्वरूप स्वभावमें भोग्यबुद्धि हुई उसे बाह्यमें भोग्यबुद्धि कैसे नहीं हो ? होती ही नहीं है। एक म्यानमें दो तलवार कदापि हो सकती नहीं, वैसे आत्मामें भोग्यबुद्धि और परपदार्थमें भी भोग्यबुद्धि यह दोनों एक साथ नहीं हो सकते है।

सम्यग्दृष्टि चाहे चक्रवर्तीपदमें हो या इन्द्रपदमें हो लेकिन वास्तवमें वह सम्यग्दृष्टिका पद नहीं है। सम्यग्दृष्टि तो निजपदमें निवास करते है। सम्यग्दृष्टि कहते हैं कि रागमें मेरा पद नहीं है। चक्रवर्तीके सिंहासनमें मेरा पद नहीं है, ९६ हजार राणीके भोगमें भी मेरा पद नहीं है। मेरा पद को मेरे पास मेरे आत्मामें है। ऐसा अनुभव करनेवाले ज्ञानीको जैसे अनुकूल भोगों चलित नहीं कर सकते वैसे प्रतिकूलताका पहाड़ आ पड़े तदपि वह ज्ञानीको दुःखी कर सकते नहीं है।

शिष्यके दो प्रश्नोंका उत्तर चल रहा था। शिष्यका प्रश्न था कि जिन्हें आत्माकी संवित्ति-वेदन प्रकट हुआ उसे जाननेका लक्षण क्या ? और उसमें उन्नति हो रही है वह कैसे जान सकते है ? तो कहते हैं कि जिन्हें निज आत्माकी संवित्ति-वेदन होता है उसे बाह्यके तुच्छ भोगके प्रलोभनमें नहीं आता और पुण्यसे प्राप्त हुए रमणीय भोगोंके प्रलोभनमें नहीं आता है। आत्माका ऐसा अलौकिक अनुभव होता है कि उसके पास अन्य कोई विषय रुचिकर

सर्वज्ञ ज्योतिसे जो प्रकाश,
तेरी महिमाका जो विकाश;

लगते नहीं है, स्वयंको भोगरूप लगते नहीं है।

शांतिनाथ भगवान चक्रवर्ती थे, राजमें थे और ९६हजार रानीके भोगमें थे लेकिन जब वैराग्य हुआ और दीक्षा लेने निकले तब रानियाँ सिरके बाल खींचकर रुदन करती है। शांतिनाथ भगवान उन्हें कहते हैं कि अरे स्त्रीओं ! हमें आपके भोगोंमें रुचि थी ही नहीं किन्तु अस्थिरताका राग था तब तक ठहरे थे लेकिन अब वह राग भी मर गया है, वह पुनः जीवित नहीं होगा।

यहाँ कहते है कि ज्ञानीकी यह बात यथार्थ ही है। क्योंकि दुनियामें ऐसा भी देखनेको मिलता है कि बहुतसे लोगोंको सुखकी प्राप्ति हो जाने पर अल्प सुख देनेवाले कारणोंके प्रति किसीको आदर व ग्राह्यभाव रहता नहीं है। घीमें तले हुए खाजा मिल जाय तो ज्वारकी रोटी कौन खायेगा ? नहीं खायेगा। चक्रवर्तीका राज मिल जाय तो फिर दो बीघाका खेत मिल रहा हो उसका भाव कौन पूछे? शहरमें बड़ासा सुंदर मकान मिल जाय तो गाँवके घूलीवाला मकानमें कौन रहे ? वैसे जिसे आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान और वेदन हो जाय उसे बाह्य भोगमें रुचि क्या कार्य करे ? नहीं करती है।

यह शास्त्रमें अन्य जगह ऐसा भी आती है कि जिनका मन सुख-शांतिमें लीन है उसे भोजन आदिमें भी रुचि रहती नहीं है। अरे ! एक शास्त्र वांचनमें भी यदि रस लग जाय तो खाना-पीना आदि किसीमें मन लगता नहीं है। ८२ की सालमें हमें प्रथम मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ने मिला तो पढ़ने में इतना रस आता था कि अन्य कोई भी प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं थी। सादी हिन्दी भाषामें ऐसे वस्तुका स्वरूप प्रकट किया है इस प्रकार महिमा आती थी। शास्त्र वांचनमें भी इतना रस आये तो फिर आत्माके श्रद्धा-ज्ञान और अनुभवके आनंदकी क्या बात करना ? उसके पास अन्य क्या रुचिकर लगे ? अन्य विषय तो अवरोधरूप लगते थे।

ज्ञानीकी ऐसी दशा है इसलिये ही शास्त्रमें कहा है कि ज्ञानीका भोग निर्जराका हेतु है। उसमें भोग कोई निर्जराका हेतु नहीं। जितना राग आता है वह तो बंधका कारण है लेकिन दृष्टिमें उस भोगके प्रति आदर नहीं है। दृष्टिमें भोग विष समान लगता है। यह दृष्टिके जोरके कारण भोगको निर्जराका कारण कह दिया है। (क्रमशः) ✻

है कौन सचेतन प्राणी नाथ,
जो नमन करैं नहिं नाय माथ।९६।

अध्यात्म संदेश

(रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर परम पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन)

परोक्ष होनेपर भी मति-श्रुतज्ञान निःशंक है।
स्वानुभवका कार्य मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है

''इस स्वानुभवदशामें आत्मा जाननेमें आता है वह श्रुतज्ञानद्वारा जाननेमें आता है; श्रुतज्ञान है वह मतिज्ञानपूर्वक ही है, और मतिज्ञान-श्रुतज्ञानको परोक्ष कहे हैं; इसलिये यहाँ आत्माका जानना प्रत्यक्षरूप नहीं होता। और अवधि-मनःपर्यय ज्ञानके विषयरूपी पदार्थ ही है तथा केवलज्ञान छद्मस्थ जीवोंके है नहीं; इसलिये अनुभवमें अवधि-मनःपर्यय या केवलज्ञानके द्वारा आत्माका जानना नहीं है। इसप्रकार यहाँ, आत्माको भलीभांति स्पष्ट जानते हैं उसमें, पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो संभवता नहीं, एवं जैसे नेत्रादिकसे वर्णादिक जाननेमें आता है वैसे एकदेश निर्मलता सहित भी आत्माके असंख्यात प्रदेशादिक जाननेमें नहीं आते, अतः इसमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपना भी सम्भवता नहीं। यहाँ तो आगम-अनुमानादि परोक्षज्ञान द्वारा आत्माका अनुभव होता है।''

साधकको आत्माका अनुभव मति-श्रुतज्ञान द्वारा होता है। इस स्वानुभवमें अनन्तगुणका अभेद चैतन्यपिण्ड आनन्दका वेदन तो साक्षात् होता है; इसमें इसकी अनन्त शक्तियोंका अभेदरूपसे आस्वादन हो जाता है तो भी, भिन्न-भिन्न अनन्तशक्तियाँ असंख्यप्रदेश मति-श्रुतमें साक्षात् नहीं दिखते, अतः इस ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं कहते; आत्माका पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो केवलज्ञानमें है, छद्मस्थको तो वह ज्ञान है नहीं, छद्मस्थको किसीको अवधि-मनःपर्ययज्ञान हो वह यद्यपि प्रत्यक्ष है तो भी वह मात्र रूपीवस्तुके-परवस्तुके ही जाननेमें प्रत्यक्ष है, स्वानुभवका कार्य इसके द्वारा नहीं होता। स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञानके द्वारा ही होता है, और वह ज्ञान परोक्ष है। यह ज्ञान परोक्ष होने पर भी कहीं शंकाशील नहीं है, आत्माके स्वरूपमें वह निःशंक है, संदेह रहित है, विपरीतता रहित है, 'ऐसा होगा या कैसा होगा ?–ऐसा अनिश्चितपना उसमें नहीं है। ब्रह्माण्ड चाहे फिर जाय तो भी वह न फिरे ऐसा दृढ़ यह स्वानुभवज्ञान है। मति-श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी स्वानुभवके समयमें इसकी जो खास विशेषता है वह आगे दिखलायेंगे।

(परोक्षज्ञानमें स्मृति प्रत्यभि आदि जो पाँच भेद कहे थे वे आत्माके जाननेमें किस प्रकारसे काम करते हैं यह दिखाते हैं :) (क्रमशः) ✻

मुक्तिका मार्ग

(सत्तास्वरूप पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन) (प्रवचन : ७)

सर्वज्ञकी सिद्धि व सच्चे जैनीका कार्य

जिसके आत्माका सर्वज्ञ वीतरागस्वभाव प्रगट हो गया है ऐसे भगवान अरहन्तदेवका भक्त कैसा होता है? यह बात चलती है। समयसारमें निश्चय भक्तिकी अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूपकी भक्तिकी मुख्य बात है और यहाँ इस सत्तास्वरूपमें व्यवहार भक्ति अर्थात् सर्वज्ञदेवकी भक्तिकी बात है। जिसप्रकार दूसरोंको अपने माने हुए कुदेवादिके प्रति प्रेम होता है उनसे भी अधिक प्रेम सच्चे देव-गुरुके प्रति जिन जीवोंको होता है और जो सुदेवादिके लिए हर्ष और उत्साहपूर्वक तन-मन-धन लगाते हैं वे देव-गुरुके प्रति प्रीतिवान कहे जाते हैं, अर्थात् वे व्यवहारसे जिनेन्द्रदेवके भक्त हैं। सर्वज्ञ भगवान और सच्चे गुरु तथा शास्त्रका भक्त होने पर वह तन, मन, वचन और ज्ञान इत्यादिसे उन्हींमें प्रवृत्ति करता है। अभी यहाँ तक आत्माकी श्रद्धा नहीं हो पाई है, किन्तु उन्हें सच्चे निमित्त जो देव-शास्त्र-गुरु हैं उनके प्रति श्रद्धा हो गई है।

पहले सच्चे देव-गुरुको पहचान कर यदि उनके लिये तन, मन, धन अर्पण करनेकी भावना आ जाय और वह कुगुरु-कुदेवादिमें प्रवृत्ति न करे तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्माकी इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो जाती कि 'जैसा सर्वज्ञका स्वभाव है, मेरा भी वैसा ही स्वभाव है, यह राग मेरा स्वरूप नहीं है' तब उसके अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व भी छूट जाता है। जो जिनदेवका भक्त होता है वह अन्य कुदेवादिको नहीं मानता; इस कालमें इस क्षेत्रमें सर्वज्ञका अभाव है ऐसे अभावको तो वह साधता है किंतु मिथ्या सद्भावको नहीं मानता, उसकी अनुमोदना नहीं करता और उसका सहायक नहीं बनता। अमृतके अभावमें विषकी साधना नहीं करता अर्थात् यहाँ पर साक्षात् जिनेन्द्र श्री अरहन्त परमात्माके अभावमें अन्य कुदेवादिमें 'यह मेरे देव होंगे' इस प्रकार अपने मनमें देवत्वकी कल्पना भी नहीं करता। किन्तु उसके सच्चे स्वरूपका ज्ञानमें निर्णय करता है।

प्रश्न :—सच्चे देवको देखे बिना उनका निश्चय कैसे होता है?

उत्तर :—जैसे कोई आदमी किसी बन्द मकानमें वीणा बजा रहा है, यद्यपि वह आँखोंसे दिखाई नहीं देता किन्तु बाहरका आदमी उसकी वीणा बजानेकी कलापद्धति और स्वर-इत्यादिसे उस पुरुषको देखे बिना ही उसकी कला इत्यादिका निर्णय कर लेता है अथवा

तुम वचनामृत तत्त्व प्रकाश;
सब भाषामय होता विकाश;

गानेवालेकी शैली, स्वर और कला इत्यादिसे गानेवालेके स्वरूपका निश्चय कर लेता है, उसीप्रकार इस शरीररूपी मकानमें जो वाणीरूपी वीणा है उसके द्वारा भीतरके आत्माका सर्वज्ञपदका निश्चय हो सकता है; ऐसा नियम नहीं है कि मनुष्यको अपनी आँखोंसे देखकर ही उसका निर्णय होता है। भले ही श्रोतागण बोलनेवालेकी आत्माको अपनी आँखोंसे न देखें फिर भी वाणीके पूर्वापर अविरोधीपनसे यह निश्चय किया जा सकता है कि यह वाणी सर्वज्ञकी ही है। सर्वज्ञपदके प्रगट होने पर वाणी और आत्मा दोनों स्वतंत्र ही है; किन्तु भीतर जो ज्ञानका सर्वज्ञत्व खिल उठा है उसका निमित्तपना वाणीमें भी आता है, इसलिए सर्वज्ञका ज्ञान भी पूर्ण है और वाणीमें भी एक समयमें पूरा कथन आ जाता है; ऐसी वाणी सर्वज्ञदेवको छोड़कर दूसरेके नहीं होती। इसप्रकार वाणीसे सर्वज्ञका निश्चय किया जा सकता है।

सर्वज्ञसिद्धिका दूसरा प्रकार : आत्मा ज्ञानस्वरूप है; एक आत्मासे दूसरे आत्मामें अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मामें उससे भी अधिक ज्ञान देखनेमें आता है, इसप्रकार उत्तरोत्तर ज्ञानकी वृद्धि होते होते किसी जीवके परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है। जिस जीवके परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है वह सर्वज्ञ है। (अन्वय)

सर्वज्ञसिद्धिका तीसरा प्रकार : एक जीवके जितना रागद्वेष होता है उससे दूसरे किसी जीवको और भी थोड़ा होता है तथा तीसरेके उससे भी कम देखनेमें आता है, इसप्रकार कम करते करते अन्तमें किसी जीवके रागद्वेषका सर्वथा अभाव ही होता है। जिस जीवके रागद्वेषका सर्वथा अभाव होता है उसके परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है। (व्यतिरेक)

इस प्रकार अपने ज्ञानमें सर्वज्ञके स्वरूपका निश्चय करके जो उन्हें देवके रूपमें पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है वह अपनी भक्तिसे भगवानको अपने आंगनमें ले आता है अर्थात् वह स्वयं सत्के आँगनमें पहुँच जाता है।

जो व्यवहारसे भी जिनेन्द्र भगवानका भक्त होता है वह अपने हृदयमें मिथ्याभावको स्थान नहीं देता अर्थात् वह वीतराग देव-शास्त्र-गुरुको छोड़कर कुदेव-कुगुरु आदिकका समर्थन नहीं करता। वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे असत्का समर्थन नहीं करता–उसे हृदयमें स्थान नहीं देता। जब वह यह श्रद्धा करले कि सर्वज्ञदेव और कुदेवादि एक समान नहीं हो सकते तब व्यवहारसे सर्वज्ञकी श्रद्धा कहलाती है। सत्यमार्ग एक ही होता है; तीन लोक और तीन कालमें सत्यके दो मार्ग नहीं हो सकते। वीतरागदेवके अतिरिक्त अन्य देवको सच्चा माननेवाला वीतरागका भक्त नहीं है।

कुछ लोग जैनधर्म और अन्यधर्मोंका समन्वय करना चाहते हैं। किन्तु जैनधर्मका अन्य धर्मोंके साथ कभी भी समन्वय नहीं हो सकता। अमृत और विषका समन्वय कैसा ?

वीतरागका सेवक वीतरागदेवके अन्तरंग स्वरूपको या बाह्यरूपको अन्यथा न तो कहता है और न मानता है। वीतरागकी वाणी सहज स्वभावसे निकलती है। भगवानकी वाणी दूसरोंको लाभ करनेकी इच्छासे नहीं खिरा करती, भगवान तो बिलकुल वीतराग हो चुके हैं, उनकी वाणी भी स्वतंत्ररूपसे खिरती है। उनकी वाणीमें वीतरागताका उपदेश है।

अब यहाँ यह कहा जाता है कि वीतरागका सेवक कब कहलाता है और व्यवहारसे जैन कब कहलाता है? वीतरागका सेवक वीतरागसे विपरीत कहनेवालेकी बात कभी नहीं मानता। जैसे बापको (पिताको) गाली देनेवाला बापका दुश्मन है। अच्छा लड़का उसे मान नहीं दे सकता, इसीप्रकार वीतरागकी बातसे विरुद्ध कहनेवालेकी बातको वीतरागका सेवक कभी नहीं मान सकता। वह जिनदेवकी वीतराग प्रतिमाके रूपको सरागरूप नहीं करता। वीतरागकी प्रतिमाके वस्त्रादिक नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकता और शस्त्र आदि राग-द्वेषके अन्य चिह्न भी नहीं हो सकते। जिनदेव तो वीतराग हैं, आनन्दघन हैं। प्रतिमाजीमें उनकी स्थापना की जाती है।

स्थापना दो प्रकारकी होती है, १-सद्भावरूप-स्थापना, २-असद्भावरूप-स्थापना। जिनेन्द्रदेवके अनुसार उनकी मूर्तिमें जिनदेवत्वका आरोप करना सो सद्भावरूप स्थापना है, और पुष्प आदिकमें स्थापना करना सो असद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेवकी प्रतिमामें जिनदेवकी ही स्थापना होती है, इसलिए उस प्रतिमापर कोई श्रृंगार आदिक नहीं हो सकता। वह वीतरागदेवका प्रतिबिम्ब है—निर्ग्रंथ है। इस प्रकार जो व्यवहारसे भी जिनदेवका सेवक है, वह जिनदेवके स्वरूपको अन्यथा नहीं मानता, वह जिन प्रतिमाकी अविनय नहीं करता। यदि कोई जिनदेवकी प्रतिमाका अविनय करता है तो वह उसे सहन नहीं करता और अविनयादिके स्थानसे स्वयं अपनेको बचाता रहता है। क्योंकि जिनप्रतिमाके अविनयमें बड़ा पाप है। इसीप्रकार जिनदेवकी तरह सद्गुरु और सत्शास्त्रोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इतना करने पर वह शुभरागमें आया कहलाता है, उसके गृहीत मिथ्यात्व छूट जाता है और वह बाह्य जैन कहलाता है। और जब वह शुद्ध आनन्दघनस्वरूपकी श्रद्धाके बल पर शुभरागसे भी भेदज्ञान कर लेता है तब वह अन्तरंगसे जैन कहलाता है। मेरा परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु देव-शास्त्र-गुरुकी ओर जो शुभ विकल्प उठते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ, मेरे ज्ञायकस्वभावमें रागका अंश भी नहीं है—इस प्रकार आत्मस्वभावकी श्रद्धा करना वह परमार्थ श्रद्धा है। जिसने ऐसी शुद्धात्माकी श्रद्धा की वह वीतरागका सच्चा सेवक हो गया, उसका अनादिकालीन विपरीत मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व छूट गया, और वह सच्चा जैन हुआ। (क्रमशः)*

अनुभवप्रकाश पर प्रवचन

(गतांकसे आगे)

※ समाधि-वर्णन ※

समाधि किसे होती है? संकल्प–विकल्प आधि है, बाह्यसंयोग वह उपाधि है और शरीरमें रोग वह व्याधि है।—इन तीनों रहित होकर स्वभावमें स्थिरता करना वह समाधि है। समाधि ध्यान होने पर होती है, और ध्यान चिन्तानिरोध करनेसे होता है और राग–द्वेष मिटानेसे चिन्तानिरोध होता है तथा इष्ट–अनिष्ट समाज मिटानेसे राग–द्वेष मिटते हैं; परन्तु यह सब सत्समागमके निमित्तसे समझमें आता है। समझे बिना एकान्तमें बैठ जाए तो कुछ नहीं होगा। कोई पूछे कि परद्रव्यसे लाभ नहीं होता, तब फिर सत्समागमका क्या काम है? तो कहते हैं कि जिसे स्वभाव समझनेकी उत्कंठा है उसे सत्समागमका विकल्प आए बिना नहीं रहेगा।

जिसकी मान्यता मिथ्या है वह बाह्यपदार्थोंको छोड़ना चाहता है। रागके निमित्त इष्ट समाज है और द्वेषके निमित्त अनिष्ट समाज है। परन्तु वास्तवमें वे इष्ट–अनिष्ट नहीं हैं, परन्तु ज्ञानका ज्ञेय हैं। इष्ट–अनिष्टपना वस्तुमें नहीं है। इष्ट–अनिष्टपनेकी दृष्टि छूटने पर उसके निमित्तपनेकी जो कल्पना की थी वह मिट जाती है और राग–द्वेष दूर हो जाते हैं।

बाहर एकान्तमें जाओ–ऐसा कहा हो, तो वहाँ कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि बाहरका एकान्त वातावरण लाभ करेगा, परन्तु स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनतारूपी आन्तरिक एकान्त प्रकट हो वह लाभका कारण है और उस समय एकान्तसंयोग हो तो संयोगका ज्ञान करानेके लिए कहा है।

जो जीव समाधिका इच्छुक हो वह इष्ट–अनिष्टका समागम मिटा देता है—वह निमित्तका कथन है। चरणानुयोगके कथनमें सामायिककी विधिमें अमुक रीतिसे बैठना आदि कथन आता है; वहाँ कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा जड़की क्रिया कर सकता है, परन्तु सामायिक कालमें उस प्रकारके विकल्प आते हैं उनका ज्ञान कराया है।

यहाँ निमित्तकी ओरका लक्ष छुड़ानेके लिए कहा है कि इष्ट–अनिष्टका समागम मिटा

सब सभा व्यापकर तृप्तकार,
प्राणिनको अमृतवत् विचार ।९७।

दे। निमित्तको हटानेकी बात नहीं है और उसे प्राप्त करनेकी भी बात नहीं है। स्वयं निमित्तकी ओरका उपयोग हटाया वहाँ निमित्त हटाया ऐसा कहते हैं। तत्त्वज्ञानपूर्वक परका त्याग करना उसका अर्थ यह है कि परके ओरकी आसक्ति छूटी, इसलिए राग छूटा। तथा जिसे उद्दिष्ट आहारकी ओरका राग नहीं छूटा उसके उद्दिष्ट आहार नहीं छूटा है—ऐसा कहा जाता है परन्तु उससे परद्रव्यके ग्रहण–त्यागकी बात नहीं है।

तथा राग–द्वेष छोड़नेकी बात भी व्यवहारसे है। स्वभावमें एकाग्रता होने पर विकल्प छूट जाते हैं और निमित्तका लक्ष छूट जाता है उसने राग–द्वेष छोड़ दिए कहा जाता है। चिन्ताके लक्षसे चिन्ता नहीं छूटती परन्तु स्वभावमें एकाग्र होने पर चिन्ता उत्पन्न नहीं होती।

अपने ध्रुवस्वभावमें एकाग्र होकर निजानन्दकी भेंट होना वह मुक्तिका कारण है। राग–द्वेषके आश्रयसे वीतरागता नहीं होती, अपने स्वरूपमें एकाग्रता करनेसे ज्ञानभाव होता है और समाधि उत्पन्न होती है उस समय विकल्प छूट जाता है। जड़ मनको अपनेमें लीन नहीं करना है, ज्ञानपर्यायको अपनेमें लीन करता है, उस कथनको स्वरूपमें मन लीन करता है—ऐसा कहा है। स्वद्रव्य गुण–पर्यायमें परिणाम लीन हों उसे समाधि कहते हैं।

(क्रमशः) ✻

(पृष्ठ १२ का शेष भाग) (प्रवचनसार प्रवचन)

करते समय सुखी दिखाई देते है इसलिये पुण्यकर्म विद्यमान है ऐसा निश्चित् होता है।

पुण्यवाले अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रियके विषयसुखको भोगनेके लिये दया आदि क्रियाएँ करता है और उसमें लाखों जीवोंकी हिंसा होने पर भी उस ओर देखता नहीं है। अर्थात् पुण्यके फलमें प्राप्त साधनोंसे शरीर तथा इन्द्रियोंका पोषण करता है लेकिन आत्माका पोषण करता नहीं है।

जैसे कृमि खराब खूनमें आसक्त है और उसे पीकर बड़ा होकर सुख है ऐसा भासन करते है। वैसा अज्ञानी भोगोंमें आसक्त वर्तता सुखी लगता है। इसलिये पुण्य देखनेमें आते है लेकिन वे इन्द्रियोंका पोषण हेतु कार्यकारी है और आत्माका घात करता है। क्योंकि अज्ञानी जीवोंका लक्ष बाह्य सामग्री पर ही है इसलिये पुण्यके फलमें प्राप्त वस्तु पर ही उसकी दृष्टि रहती है लेकिन आत्मस्वभाव पर जाती नहीं है। (क्रमशः)✻

तुम अनेकांत मत ही यथार्थ,
यातें विपरीत नहीं यथार्थ;

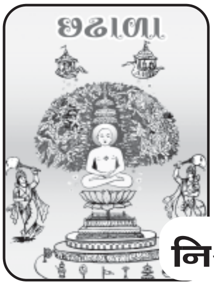

श्री छहढाला पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

(तीसरी ढाल, गाथा-२)

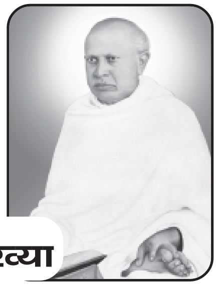

निश्चयसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी व्याख्या

परसे पृथक् आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है उसकी श्रद्धा-ज्ञान करनेके पश्चात् ही उसमें लीनता हो सकती है; निजस्वरूपमें लीनता द्वारा जितनी वीतरागी शुद्धता हुई उतना सम्यक्चारित्र है। व्रत सम्बन्धी शुभ विकल्प वह चारित्र नहीं, वह तो चारित्रदशाके साथमें निमित्तरूप है। वीतरागता ही चारित्र है, राग वह चारित्र नहीं है। राग बिनाका रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है, राग तो आस्रवका कारण है, वह मोक्षका कारण नहीं है।

अहा ! ऐसा स्पष्ट वीतरागी मार्ग ! उसे भूलकर अज्ञानी लोगोंने रागमें मोक्षमार्ग मान लिया है। रागको मोक्षमार्ग मानना वह तो कांचके टुकड़ेके बदलेमें महा मूल्यवान चैतन्यहीरा मांगने जैसा है। रागद्वारा मोक्ष होना जो मानता है उसने तो राग जितनी ही मोक्षकी किंमत की है, वीतरागी आनंदरूप मोक्षकी उसे खबर नहीं है। बापू ! पूर्ण आनंदसे परिपूर्ण मोक्षपद ऐसा नहीं है कि जो रागमें मिल जाय। वीतरागी आनंदरूप मोक्षकी किंमत भी कोई अलौकिक है। अखंड चैतन्यस्वभावका स्वीकार करके उसके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभावसे ही मोक्षकी साधना होती है उससे पृथक् अन्य कोई साधन नहीं है।

अहा, ज्ञानानंदके अनंत किरणोंसे प्रकाशमान चैतन्यरत्न वह तो वीतरागताका पूंज है; उसमें लीनतारूप वीतरागता वह ही चारित्र है। ऐसे चारित्रको भगवानने परमधर्म कहा है। उसके बदले जो परमें और रागादि व्यवहारभावोंमें लीन होकर उसे चारित्रधर्म समझ ले तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसे तो व्यवहारचारित्र भी होता नहीं है। (लीन भयो व्यवहारमें मुक्ति कहाँसे होय ?)

प्रथम चारित्र और पश्चात् सम्यग्दर्शन—ऐसा जो मानता है उसे तो सम्यग्दर्शनकी या चारित्रकी किसीकी भी खबर नहीं है। भाई ! श्रद्धा बिना चारित्र कैसा ? आत्माको पहिचाने बिना तू लीन किसमें होगा ? चारित्रका मूलकारण तो सम्यग्दर्शन और ज्ञान है; उसके बदले शुभरागको ही तूने चारित्र मान लिया और पुनः उस शुभरागरूप चारित्रको तूने सम्यग्दर्शनका

> एकांत दृष्टि है मृषा वाक्य,
> निज घातक सर्व अयोग्य वाक्य।९८।

कारण माना—अर्थात् तुझे पूर्ण मोक्षमार्ग रागरूप ही हुआ, उसमें वीतरागता या शुद्धात्माका आश्रय करना तो कहीं पर नहीं आया। स्वद्रव्यके आश्रयरूप वीतरागता बिना मोक्षमार्ग कैसा? शुद्धात्माके आश्रयसे ही यथार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, और वह ही मोक्षमार्ग है।

समयसार गाथा २७६-२७७में कहते हैं कि—शुद्धात्मा वह ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानका आश्रय है, शुद्धात्मा वह दर्शन है क्योंकि वह दर्शनका आश्रय है, और शुद्धात्मा ही चारित्र है क्योंकि वह चारित्रका आश्रय है—इस प्रकारसे निश्चय है। शुद्धात्माके आश्रयसे ही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है अर्थात् अभेदरूपसे उन तीनोंको शुद्धात्मा ही कह दिया है।

शास्त्रोंका ज्ञान, नवपदार्थोंकी श्रद्धा और पंचमहाव्रतके शुभभावरूप चारित्र वह व्यवहार है; क्योंकि वह होने पर भी—यदि शुद्धात्माका आश्रय न हो तो—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता नहीं है। —इसलिये पराश्रित ऐसा व्यवहार वह मोक्षमार्गमें निषेध्य है, और स्वाश्रित ऐसा जो निश्चय वह ही मोक्षमार्ग उपादेय है—यह सिद्धांत है।

पंडितजीने समयसार आदि शास्त्रों अनुसार यह छहढालाकी रचना की है; संस्कृत और व्याकरण पढ़े बिना भी समझमें आये ऐसा सरल यह पुस्तक है; संक्षिप्तमें बहुतसी बातें इसमें समझायी हैं। बड़े और छोटे सभीको अभ्यास करनेयोग्य यह पुस्तक है। यह दूसरी गाथामें निश्चय रत्नत्रयका कथन किया है और अब तीसरी गाथासे व्यवहार सम्यग्दर्शनका तथा उसके विषयरूप जीव-अजीवादि सात तत्त्वोंका वर्णन करेंगे।

देखो, प्रथम निश्चयमोक्षमार्ग बतलाकर पश्चात् कहा कि अब व्यवहार सुनो। जहाँ निश्चय है वहाँ व्यवहार कैसा होता है उसका ज्ञान कराते है। जिसे निश्चयकी खबर नहीं उसे व्यवहार कैसा? व्यवहारको नियतका हेतु कहा—किन्तु वह कौनसा व्यवहार? कि जो निश्चयके साथ हो वह। जहाँ निश्चय है वहाँ ऐसा व्यवहार हो उसको व्यवहारसे कारण कहा जाता है, निश्चय न हो वहाँ मात्र व्यवहार हो उसे उद्देश्य कहनेमें आता नहीं है। अर्थात् व्यवहारको उद्देश्यवत् कहा उसे धर्मास्तिकायवत् जानना। जैसे धर्मास्तिकाय गतिमें कारण है—लेकिन किसे? कि जो स्वयं गति करे उसे; उसी प्रकार व्यवहार वह निश्चयका कारण है—लेकिन किसको? कि स्वाश्रयसे जो निश्चयधर्म प्रकट करे उसको। जिसने पंचमहाव्रतादि व्यवहारका तो पालन किया, लेकिन स्वाश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शनादि प्रकट नहीं किया। उसको तो व्यवहार कारण भी नहीं हुआ (—जैसे स्वयं गति नहीं करनेवालेको धर्मास्तिकाय हेतु नहीं होता है वैसे)।

एकांती तपसी मान धार,
निज दोष निरख गज नयन धार;

यदि मात्र व्यवहार वह वास्तवमें निश्चयका उद्देश्य होता हो तो—

'मुनिव्रतधार अनंतबार ग्रैवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।'

—पंचमहाव्रतादि व्यवहार अनंतबार करने पर भी उस जीवको वह निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रका हेतु क्यों न हुआ ? उपादान बिना निमित्त क्या करे ? उपादान-निमित्तके दोहामें भी पं. भगवतीदासजी कहते हैं कि—

उपादान निजबल जहाँ तहाँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय।

जहाँ उपादान स्वयंके सामर्थ्य द्वारा कार्य करता है वहाँ अन्य संयोग निमित्तरूप होते है; उसी प्रकार जहाँ स्वद्रव्यके आश्रयरूप उपादानके बलसे निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट हो वहाँ निमित्तरूप योग्य व्यवहार होता है।

आत्मा परद्रव्योंसे हमेशा पृथक् है; स्वयंको ऐसा आत्माका अटल विश्वास वह सम्यग्दर्शन है। अटल अर्थात् जो कदापि टले नहीं। आत्मासे कदापि पृथक् न हो। सिद्धदशामें भी आत्मा हमेशा साथमें रहे—वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है परको आश्रित है, वह सिद्धदशामें साथमें रहता नही हैं, वह आत्मारूप नहीं है लेकिन विकल्परूप है अर्थात् वीतरागदशा होने पर वह विकल्प छूट जाते है। निश्चय सम्यग्दर्शन तो आत्मारूप है, वह सिद्धदशामें सदाकाल रहता है। उसी प्रकार निश्चय सम्यग्ज्ञान तथा निश्चय सम्यक्चारित्रको भी आत्मारूप जानना; विकल्पसे वह भिन्न है। विकल्परूप व्यवहारभावोंसे आत्मा भिन्न होने पर भी उसके साथ आत्माको एकमेक मानना वह अज्ञानी जीवोंका मिथ्या प्रतिभास है और उसका फल संसार है। सर्व परभावोंसे भिन्न आत्माको देखना-जानना-अनुभव करना वह मोक्षका मार्ग है। भव्यजी वोंको ऐसा मोक्षमार्गका सदा सेवन करना चाहिये। शुभरागके कालमें धर्मी जीव रागको मोक्षमार्गके रूपमें सेवन करते नहीं है, लेकिन उस समय स्वभावके आश्रयसे रत्नत्रयकी जितनी शुद्धि हुई है उसे ही मोक्षमार्गके रूपमें सेवन करते हैं।

इस प्रकार यथार्थ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग है; यथार्थ अर्थात् निश्चय; 'जो सत्यारथरूप सो निश्चय।'—और उस निश्चयके अनुकूल भूमिका अनुसार व्यवहार होता है, उसमेंसे निश्चय सम्यग्दर्शनकी साथका व्यवहार कैसा होता है उसका वर्णन अब आगेकी गाथामें कहेंगे। (क्रमश:) ✻

मैं (अहं ब्रह्मास्मि) (द्रव्यदृष्टि अपेक्षासे)

— मैं जीव हूँ, अजीव नहीं।
— मैं चेतन हूँ, जड़ नहीं।
— मैं दर्शनमय हूँ, अदर्शनमय नहीं।
— मैं ज्ञानी हूँ, अज्ञानी नहीं।
— मैं सुखी हूँ, दुःखी नहीं।
— मैं वीर्यवान हूँ, कायर नहीं।
— मैं प्रभु हूँ, पामर नहीं।
— मैं सर्वज्ञ हूँ, खंड़-खंड़ ज्ञानमय नहीं।
— मैं स्वच्छ हूँ, मलिन नहीं।
— मैं स्वपरप्रकाशक हूँ, अंधकारमय नहीं।
— मैं असंकुचित विकासमय हूँ, मर्यादित नहीं।
— मैं संपूर्ण हूँ, अपूर्ण नहीं।
— मैं स्वतंत्र हूँ, पराधीन नहीं।
— मैं अमूर्त हूँ, मूर्तिक नहीं।
— मैं निष्क्रिय हूँ, क्रियावान नहीं।
— मैं निःस्पंदनमय हूँ, स्पंदनवाला नहीं।
— मैं स्वसे अस्ति हूँ, स्वसे नास्ति नहीं।
— मैं परसे नास्ति हूँ, परसे अस्ति नहीं।
— मैं द्रव्यसे एक हूँ, अनेक नहीं।
— मैं पर्यायसे अनेक हूँ, एक नहीं।
— मैं स्वका कर्ता हूँ, परका कर्ता नहीं।
— मैं स्वका स्वामी हूँ, परका स्वामी नहीं।
— मैं स्वका साधन हूँ, परका साधन नहीं।
— मैं स्वको दान दे सकता हूँ, परको दान दे सकता नहीं।
— मैं स्वसे दान लेता हूँ, परके पाससे दान लेता नहीं।
— मैं स्वका आधार हूँ, परका आधार नहीं।
— मैं स्वके साथ स्वस्वामी सम्बन्ध रखता हूँ, परके साथ स्वस्वामी सम्बन्ध रखता नहीं।
— मैं सत् हूँ, असत् नहीं।
— मैं सहज हूँ, कृत्रिम नहीं।
— मैं त्रिकाली हूँ, क्षणिक नहीं।
— मैं निर्विकारी हूँ, विकारी नहीं।
— मैं स्वभाव हूँ, विभाव नहीं।
— मैं सर्वोत्कृष्ट हूँ, पामर नहीं।
— मैं निरुपाधिक हूँ, उपाधिवाला नहीं।
— मैं शुद्ध हूँ, विभावोंसे अशुद्ध नहीं।
— मैं मेरे गुणोंकी पर्यायोंमें व्याप्त हूँ, परके गुणोंकी पर्यायमें व्यापता नहीं।

—पूज्य गुरुदेवश्री

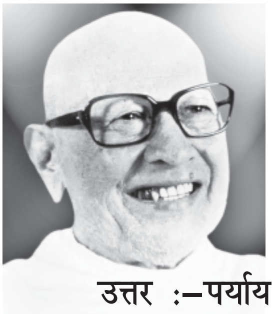

युवा-विभाग

(इस विभागके अंतर्गत मुमुक्षुओंकी पूज्य गुरुदेवश्रीके साथ रात्रिके समय चर्चा हुई, वह दी जा रही है।)

प्रश्न :–सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पात्रता कैसी होनी चाहिये?

उत्तर :–पर्याय सीधी द्रव्यको पकड़े, वह सम्यग्दर्शनकी पात्रता है। तद्तिरिक्त व्यवहार-पात्रता तो अनेक प्रकारकी कही जाती है। मूल पात्रता तो दृष्टि द्रव्यको पकड़कर स्वानुभव करे, वहीं पात्रता है।

प्रश्न :–सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवालेकी व्यवहार योग्यता कैसी होती है?

उत्तर :–निमित्तसे अथवा रागसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, पर्यायभेदके आश्रयसे भी नहीं होता, अन्तरमें ढलनेसे ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी विधिसे नहीं; इसप्रकारकी दृढ़ श्रद्धा-ज्ञान होना, वही सम्यग्दर्शन होनेवालेकी योग्यता है।

प्रश्न :–सम्यग्दर्शनके लिये खास प्रकारकी पात्रताका लक्षण क्या है?

उत्तर :–जिसको अपने आत्माका हित करनेके लिये अन्दरसे वास्तविक लगन हो, आत्माको प्राप्त करनेकी तड़फड़ाहट हो, दरकार हो, वास्तविक छटपटाहट हो; वह कहीं भी अटके बिना–रुके बिना अपना कार्य करेगा ही।

प्रश्न :–सम्यग्दर्शन न होनेमें भावज्ञानकी भूल है अथवा आगमज्ञानकी भूल है?

उत्तर :–अपनी भूल है। यह जीव स्व-तरफ नहीं झुककर, पर तरफ रुकता है–यही उसकी भूल है। विद्यमान शक्तिको अविद्यमान कर दिया, अर्थात् प्राप्त शक्तिको अप्राप्य समझ लिया, अपनी त्रिकाली शक्तिके अस्तित्वको नहीं पहचाना—यही अपनी भूल है। त्रिकाली वर्तमान शक्तिके अस्तित्वको स्वीकार कर ले–देख ले तो भूल टल जाय।

प्रश्न :–तत्त्वविचार तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका निमित्त है। उसका मूल साधन क्या है?

उत्तर :–मूल साधन अन्दरमें आत्मा है, वहाँ दृष्टिका जोर जाये और 'मैं एकदम पूर्ण परमात्मा ही मैं हूँ'—ऐसा विश्वास आये, जोर आये और दृष्टि अन्तरमें ढले तब सम्यग्दर्शन होता है। उसमें प्रथम तत्त्वका विचार होता है, उसकी भी रुचि छोड़कर जब अन्दरमें जाता

ते अनेकांत खंडन अयोग्य,
तुझ मत लक्ष्मीके हैं अयोग्य।९९।

है तब उस विचारको निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न :–नवतत्त्वको जानना सम्यग्दर्शन है या शुद्धजीवको जानना सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर :–नवतत्त्वको यथार्थरूपसे जानने पर उसमें शुद्धजीवका ज्ञान भी साथमें आ ही जाता है, तथा जो शुद्धजीवको जानता है उसको नवतत्त्वका भी यथार्थ ज्ञान अवश्य होता है। इसप्रकार नवतत्त्वके ज्ञानको सम्यक्त्व कहो अथवा शुद्धजीवके ज्ञानको सम्यक्त्व कहो–वह दोनों एक ही है। (ज्ञान कहने पर उस ज्ञानपूर्वककी प्रतीतिको सम्यग्दर्शन समझना) इसमें एक विशेषता यह है कि सम्यक्त्व प्रकट होनेकी अनुभूतिके समयमें नवतत्त्वके ऊपर लक्ष्य नहीं होता, वहाँ तो शुद्धजीवके ऊपर ही उपयोग लक्षित होता है और 'यह मैं हूँ',—ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येयभूत एकमात्र शुद्धात्मा ही है।

प्रश्न :–सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी विधि क्या है ?

उत्तर :–''परका कर्त्ता आत्मा नहीं, रागका भी कर्त्ता नहीं, रागसे भिन्न ज्ञायकमूर्ति हूँ''—ऐसी अन्तरमें प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी विधि है। ऐसा समय मिला है, जिसमें आत्माको रागसे भिन्न कर देना ही कर्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं है।

प्रश्न :–त्रिकाली ध्रुव द्रव्यदृष्टिमें आया–ऐसा कब कहा जाय ? वेदनमें भी द्रव्यमें आता है क्या ?

उत्तर :–चैतन्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मद्रव्यदृष्टिमें आने पर नियमसे पर्यायमें आनन्दका वेदन आता है। इसी पर्यायको अलिंगग्रहणके २०वें बोलमें आत्मा कहा है। त्रिकाली ध्रुव भगवानके ऊपर दृष्टि पड़ने पर वेदनमें आनन्दका अनुभव होता है, तभी द्रव्यदृष्टि हुई कही जाती है। यदि आनन्दका वेदन न हो तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर गई ही नहीं। जिसकी दृष्टि द्रव्यके ऊपर जावे, उसको अनादिकालीन रागका वेदन था वह टलकर आनन्दका वेदन पर्यायमें होगा। ऐसी दशामें उसकी दृष्टिमें द्रव्य आया है, तथापि वेदनमें द्रव्य आता नहीं। क्योंकि पर्याय द्रव्यका स्पर्श करती नहीं। प्रभुकी पर्यायमें प्रभुका स्वीकार होने पर उस पर्यायमें प्रभुका ज्ञान आता है, किन्तु पर्यायमें प्रभुका–द्रव्यका वेदन नहीं आता। यदि वेदनमें द्रव्य आवे तो द्रव्यका नाश हो जाय, परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल टिकनेवाला है, इसलिये वह पर्यायमें आता नहीं अर्थात् पर्याय सामान्य द्रव्यको स्पर्श नहीं करती–ऐसा कहा।

(क्रमशः)✻

एकांती निज घातक जु दोष,
समरथ नहि दूर करण सदोष;

बाल विभाग

वालिखिल्यकी कथा

वनवासके समय अनेक नगर-वन भ्रमण करते हुए श्री राम, लक्ष्मण और सीताजी नलकुंवर नामके नगरमें आकर रहे। वन फल-फूलोंसे शोभायमान है और कोयल मधुर स्वरसे बोल रही है। पासमें एक सरोवर था वहाँ पर लक्ष्मण जल हेतु गये। उसी सरोवर पर क्रीड़ा निमित्त कल्याणमाला नामकी राजपुत्री राजकुमारका वेष लेकर आयी थी। वह राजकुंवर सुंदर नेत्रवाला, सर्वको प्रिय, विनयी, कांतिरूप जलधाराका पर्वत, श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ होकर सुंदर थलसेना सहित नगरका राजा सरोवरके किनारे लक्ष्मणको देखकर मोहित हुआ। लक्ष्मण नीलकमल समान श्याम, सुंदर लक्षणोंके धारक है।

राजकुमारने एक सेवकको आज्ञा की कि उसे ले आओ। सेवकने हाथ जोड़कर नमस्कार करके लक्ष्मणजीसे कहा कि हे धीर! यह राजपुत्र आपसे मिलना चाहता है तो आप पधारीये। लक्ष्मण राजकुमारकी समीपमें गया। राजकुमार हाथी परसे नीचे उतरकर अपने कमलतुल्य हाथसे लक्ष्मणका हाथ पकड़कर शामियानामें ले गया। दोनों एक आसन पर बैठे।

राजकुमारने पूछा कि आप कौन हो और कहाँसे आ रहे हो? तब लक्ष्मणने कहा कि मेरे ज्येष्ठ भ्राता मेरे बिना क्षणमात्र भी रह सकते नहीं है, मैं उनके लिए अन्न, खाद्यसामग्री देकर उनकी आज्ञा लेकर आपके पास आऊँगा पश्चात् शेष बातें करेंगे। यह सुनकर राजकुमार ने कहा कि यहाँ रसोई तैयार ही है तो आप यहां पर आप भोजन किजीये। फिर लक्ष्मणकी आज्ञा लेकर सुंदर भात, दाल, अनेक प्रकारकी सब्जी, ताजा घी, कर्पुरादि सुगंधित द्रव्य सहित दहीं, दूध कई प्रकारके पेय पदार्थ, मिश्रीके स्वादवाले लड्डु, पूरी इत्यादि अनेक प्रकारकी भोजनकी सामग्री और वस्त्र, आभूषण, माला इत्यादि तैयार किया। फिर पासमें जो द्वारपाल था उसे भेजा।

वह सीता सहित रामको प्रणाम करके कहने लगा हे देव! इस वस्त्रभवनमें आपके भाई बैठे है और इस नगरके राजाने बहुत आदरसहित आपको विनंती की है कि वहाँ शीतल स्थान है और स्थान भी मनोहर है तो कृपा करके आप वहाँ पर पधारिये, जिससे मार्गकी थकान दूर हो। पश्चात् राम सीता सहित वहाँ पधारे, मानो चांदनी सहित चंद्रमाने प्रकाश किया। मस्त हाथी समान चलते हुए दूरसे आते हुए श्रीरामको देखकर नगरीके राजा और लक्ष्मण उठकर उनके सामने चले। सीता सहित राम सिंहासन पर विराजमान हुए राजाने आरती करके अर्घ्य चढ़ाया। अत्यंत

तुम द्वेष धार निज हननकार,
मानैं अवाच्य सब वस्तु सार।१००।

सन्मान किया, स्वयं प्रसन्न होकर स्नान भोजन किया, सुगंधित पदार्थका लेप किया पश्चात् राजाने सभीको विदाय दी। अब वहाँ पर एक राजा और यह तीन इस प्रकार चार व्यक्ति ही रहे। सामंत आदिको कहा कि मेरे पिता समाचार इनके पाससे आया है, गुप्त है इसलिये किसीको अंदर आनेका नहीं है, कोई अंदर आयेगा तो उसे मैं मार डालूँगा। द्वारा पर विश्वासु सामंतको खड़े किया।

एकांतमें उसने लज्जा छोड़कर, राजाका वेश छोड़कर स्वयंका स्त्री स्वरूप प्रकट किया। कन्या लज्जित मुखवाली, मानों स्वर्गकी देवांगना हो अथवा नागकुमारी जैसी हो ऐसी थी। कांतिसे संपूर्ण खंड प्रकाशमान हो गया, मानों कि चंद्र उदित हुआ। उसका मुख लज्जा और मंद हास्यसे मंडित है, मानों कि राजकन्या साक्षात् लक्ष्मी ही थी और कमलवनमें आ बैठी थी, स्वयंकी लावण्यताके सागरमें पूरा शामयिनाको डूबो दिया। उनके प्रकाशके आगे रत्न और कंचन द्युतिरहित भासित लगते है। मानों मेघपटलको भेदकर चंद्र निकल आये ऐसे उसके वस्त्रको भेदकर शरीरका प्रकाश फैल रहा था। अति कोमल, सुगंधित, पतले लम्बे बालसे शोभित तेजस्वी मुख काली घटामें बिजली समान चमकता था। अति सूक्ष्म, स्निग्ध रोमावलिसे शोभित नीलमणिमंडित सुवर्णकी मूर्ति ही लगती थी। तत्काल नररूप छोड़कर नारीका मनोहर रूप धरनेवाली वह सीताके पैरके पा जाकर मानो लक्ष्मी रतिकी निकट जाकर बैठी हो। उसका रूप देखकर लक्ष्मण कामबाणसे घायल हो गये। उनकी अवस्थी ही अलग हो गई, नेत्र चलायमान हो गये।

श्री रामचंद्रजीने पूछा कि तू किसकी पुत्री है और यह पुरुषवेष किसलिये धारण किया है? तब वह मधुरभाषी कन्या अपना अंगको ढकते हुए कहने लगी कि हे देव! मेरा वृत्तांत सुनो। इस नगरके राजा वालिखिल्य बुद्धिमान, सदाचारी, श्रावकके व्रतधारी, अति दयालु और जिनधर्मीके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाले थे। उनकी रानी पृथ्वीमतिको गर्भ रहा और मैं गर्भमें आई। मेरे पिताका म्लेच्छोंके अधिपतिके साथ संग्राम हुआ, उसमें मेरे पिताको बंदी बना लिया गया। मेरे पिता सिंहोदरके सेवक थे। सिंहोदरने ऐसी आज्ञा की कि वालिखिल्यको यदि पुत्र हुआ तो वह राज्य करेगा, किन्तु मैं पापिनी पुत्री हुई, फिर हमारे मंत्री सुबुद्धिने राज्यके लिये मुझे पुत्र ठहराया। सिंहोदरने विनती की, मेरा नाम कल्याणमल रखा गया, बड़ा उत्सव किया। अब पुण्यके प्रभावसे आपके दर्शन हुए। मेरे पिता म्लेच्छोंके बंदी है और बहुत दुःखी है, सिंहोदर भी उसे छुड़वानेमें समर्थ नहीं है। देशमें जो कुछ आमदानी होती है वह सभी म्लेच्छ ले जाते है। मेरी माता वियोगरूप अग्निमें जल रही है, बीजके चंद्रमा समान क्षीण हो चुकी है। ऐसा कहकर दुःखके भारसे पीड़ित अंगवाली तेजहीन होकर रुदन करने लगी। (क्रमशः)✻

प्रौढ व्यक्तियोंके लिए जानने योग्य प्रश्न तथा उत्तर

(पांच वस्तु पूर्ण किजीये ।)

(१) पांच सिद्धक्षेत्र १. पावापुरी २............... ३...............
४............... ५...............

(२) पांच पहाड़ राजगृहीके १. विपुलाचल २............... ३...............
४............... ५...............

(३) पांच ज्ञान १. मतिज्ञान २............... ३...............
४............... ५...............

(४) पांच रत्न प्रवचनसार गाथा नं. १. २७२ २............... ३...............
४............... ५...............

(५) पांच रत्न नियमसार गाथा नं. १. ७८ २............... ३...............
४............... ५...............

(६) पांच भाव १. औपशमिक २............... ३...............
४............... ५...............

(७) पांच परमेष्ठी १. अरिहंत २............... ३...............
४............... ५...............

(८) पांच विदेहक्षेत्र १. पूर्व धातकीखंड २............... ३...............
४............... ५...............

(९) अयोध्यामें जन्मप्राप्त पांच तीर्थंकर १. ऋषभदेव २............... ३...............
४............... ५...............

(१०) पांच इन्द्रिय १. स्पर्श २............... ३...............
४............... ५...............

(११) वीरप्रभुके पांच नाम १. वीर २............... ३...............
४............... ५...............

(१२) कुन्दप्रभुके पांच नाम १. कुन्दकुन्द २............... ३...............
४............... ५...............

(१३) पांच शाश्वत मेरु तीर्थ १. सुदर्शन मेरु २............... ३...............
४............... ५...............

(१४)	पंचमकालके पांच श्रुतकेवली	१. विष्णुमुनि	२...............	३...............
			४...............	५...............
(१५)	पांच अनुत्तर विमान	१. विजय	२...............	३...............
			४...............	५...............
(१६)	पांच प्रकारके अर्थ	१. शब्दार्थ	२...............	३...............
			४...............	५...............
(१७)	पांच कल्याणक	१. गर्भ	२...............	३...............
			४...............	५...............
(१८)	पांच बालब्रह्मचारी तीर्थंकर	१. वासुपूज्य	२...............	३...............
			४...............	५...............
(१९)	पाँच लब्धि	१. क्षयोपशम	२...............	३...............
			४...............	५...............
(२०)	पाँच परावर्तन	१. द्रव्य	२...............	३...............
			४...............	५...............

प्रौढके लिये दिये गये प्रश्नोंके उत्तर

(१) गिरनार, कैलासपर्वत, चंपापुरी, सम्मेदशिखर

(२) रत्नगिरि, उदयगिरि, श्रमणगिरि, वैभारगिरि

(३) श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान

(४) २७३, २७४, २७५, २७६

(५) ७९, ८०, ८१, ८२

(६) क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक

(७) सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु

(८) पश्चिमधातकीमें, पूर्व-पुष्करार्धमें, पश्चिमपुष्करार्धमें, जंबूद्वीपमें

(९) अजितनाथ, अभिनंदन, सुमतिनाथ, अनंतनाथ

(१०) रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र

(११) अतीवीर, महावीर, सन्मतिनाथ, वर्धमान

(१२) पद्मनंदि, गृद्धपिच्छ, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य

(१३) अचलमेरु, विजयमेरु, मंदीरमेरु, विद्युन्मालीमेरु

(१४) नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु

(१५) वैजयन्त, जयंत, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि

(१६) नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ

(१७) जन्मकल्याणक, दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक, मोक्षकल्याणक

(१८) मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर

(१९) विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करणलब्धि

(२०) क्षेत्र, काल, भव, भाव परावर्तन

कालचक्र

वीतरागी जैनशासनकी परंपरा अनादिकालसे चली आ रही है, क्योंकि यह जैनशासन शाश्वत सत्य पर आधारित है। यह शाश्वत सत्यमें किसी भी कालमें कोई भी बदलाव नहीं हुआ है। यह वीतरागी शासनकी गौरवपूर्ण परम्पराके पुनीत प्रवाह में, जम्बूद्वीपके इस भरतक्षेत्रमें वर्तमान चौबीसीके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवानसे लेकर अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान तकके सभी तीर्थंकरोंने जैनदर्शनमें जगतकी वस्तु व्यवस्थाका प्रतिपादन किया है और भव्यजीवोंके कल्याणके कारणभूत मोक्षमार्ग बतलाया है।

जैनदर्शनकी परम्परा अनुसार भरतक्षेत्रमें कालका चक्र परिवर्तित होता ही रहता है। यद्यपि कालका प्रवाह अनादि-अनंत है, तदपि उस व्यवहार कालचक्रका मुख्य दो विभाग है : (१) अवसर्पिणीकाल और (२) उत्सर्पिणीकाल। यह दोनों कालमें प्रत्येकका समय दस क्रोड़ाक्रोड़ी सागर है। इस प्रकार एक कालचक्रका कुल समय बीस क्रोड़ाक्रोड़ी सागर है, जिसे कल्पकाल कहा जाता हैं।

(१) अवसर्पिणी कालचक्र		
क्रम	कालका नाम	समय
१	सुषमा-सुषमा (अति सुखरूप)	४ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर
२	सुषमा (सुखरूप)	३ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर
३	सुषमा-दुःषमा (सुख-दुःखरूप)	२ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर
४	दुःषमा-सुषमा (दुःख-सुखरूप)	१ क्रोड़ाक्रोड़ी सागरमें ४२००० वर्ष कम
५	दुःषमा (दुःखरूप)	२१००० वर्ष
६	दुःषमा-दुःषमा (अति दुःखरूप)	२१००० वर्ष
		कुल १० क्रोड़ाक्रोड़ी सागर

(२) उत्सर्पिणी कालचक्र		
क्रम	कालका नाम	समय
६	दुःषमा-दुःषमा (अति दुःखरूप)	२१००० वर्ष
५	दुःषमा (दुःखरूप)	२१००० वर्ष
४	दुःषमा-सुषमा (दुःख-सुखरूप)	१ क्रोड़ाक्रोड़ी सागरमें ४२००० वर्ष कम
३	सुषमा-सुषमा (सुख-दुःखरूप)	२ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर
२	सुषमा (सुखरूप)	३ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर
१	सुषमा-सुषमा (अति सुखरूप)	४ क्रोड़ाक्रोड़ी सागर
		कुल १० क्रोड़ाक्रोड़ी सागर

असंख्यात अवसर्पिणीकाल व्यतीत होनेके बाद एक हुंडावसर्पणी काल (अति निकृष्टकाल) आता है। हाल ऐसा ही हुंडावसर्पिणी कालका पाँचवां आरा अभी चल रहा है। उसके कुल इक्कीस हजार वर्षमेंसे अभी २५५० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अभी १८४५० वर्ष बाकी है। अवसर्पिणीकालमें मनुष्योंका बल, आयु और शरीर आदिका क्रमशः हीन होता है, जब कि उत्सर्पिणीकालमें मनुष्योंके बल, आयु, शरीर आदिमें क्रमशः वृद्धि होता है। दोनों कालचक्रमें प्रत्येकके छह प्रकार है।

छह द्रव्य

- जीव
- पुद्‌गल
- धर्मास्तिकाय
- अधर्मास्तिकाय
- आकाश
- काल

सात तत्त्व

- जीव
- अजीव
- आस्रव
  - पुण्य
  - पाप
- संवर
- निर्जरा
- बंध
- मोक्ष

पृथक् (अलग)

- **पृथक्त्व**
  प्रदेश भिन्न
  दृष्टांत : दो पृथक् द्रव्य
- **अन्यत्व**
  एक प्रदेश होने पर भी संज्ञा, कार्यसे भिन्न
  दृष्टान्त : गुण, गुणी

उपयोग

(जीवके चैतन्य गुणके परिणाम (पर्याय)को उपयोग कहते हैं)

- **दर्शन**
  - चक्षु
  - अचक्षु
  - अवधि
  - केवल
- **ज्ञान**
  - मति
  - श्रुत
  - अवधि
  - मनःपर्यय
  - केवल,
  - कुमति
  - कुश्रुत
  - कुअवधि

समय

स्वसमय

जो शास्त्रज्ञान और स्वानुभवसे मानता है कि

१) प्रत्येक द्रव्य सत् है ।

२) प्रत्येक द्रव्य स्वयंसिद्ध, सहज, अहेतुक हैं ।

३) प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वयंसे परिणमित होते हैं ।

४) एक द्रव्य अन्य द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र और परिपूर्ण है ।

५) मैं मनुष्य अर्थात् जीव और पुद्‌गलकी विभाविक पर्याय नहीं लेकिन एक (जीव) आत्मा ही हूँ ।

६) मैं मोक्षस्वरूप, सिद्धस्वरूप हूँ और अन्य आत्माएँ भी सिद्ध समान हैं ।

परसमय

जो अज्ञानसे स्वसमय न माने वह परसमय है ।

सुवर्णपुरी समाचार :—

अध्यात्मतीर्थ सुवर्णपुरीका धार्मिक वातावरण अनंत उपकारमय पूज्य सद्‌गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं उनके अनन्य भक्त पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके कल्याणवर्षी पुण्यप्रतापसे, आशीर्वादसे देव-गुरु-शास्त्रकी, धर्मकी आराधनामय रहता है एवं पं. रत्नश्री हिंमतभाई जे. शाहने बनाये हुए सुमधुर काव्यसे वातावरण भक्तिमय रहता है :—

प्रातः : ६-०० से ६-२० : पूज्य बहिनश्रीकी धर्मचर्चाकी ऑडियो-टेप

सुबह : ८-३० से ९-३० : परमागम श्री समयसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीका (१८वीं बारका) सीडी प्रवचन

दोपहर : ३-१५ से ४-१५ : श्री नियमसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीका टेप प्रवचन

दोपहर : ४-१५ से ४-४५ : श्री जिनेन्द्र भक्ति

रात्रि : ८-०० से ९-०० : श्री परमात्मप्रकाश पर पूज्य गुरुदेवश्रीका सीडी प्रवचन

❀ **ज्ञानवैभव-प्रकाशन वार्षिक दिन :** 'बहिनश्रीका ज्ञानवैभव' ग्रंथके प्रकाशनका वार्षिक दिन भाद्रपद कृष्णा-१४ ता. २२-८-२०२५, शुक्रवारके दिन है। यह दिन उनके उपकारोंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापनार्थ, जिनेन्द्रपूजा-समारोह आदि विशेष कार्यक्रम सह मनाया जायेगा।

❀ **दशलक्षणपर्युषणपर्व :** भादों शुक्ला ५, गुरुवार, ता. २८-८-२०२५से भादों शुक्ला १४, शुक्रवार, ता. ६-९-२०२५ तक दस दिन श्री दशलक्षणपर्युषणपर्व, श्री दशलक्षण मण्डल विधानपूजा तथा मुनिधर्ममहिमा भरे अध्यात्म ज्ञान-वैराग्य-भक्तिकी उपासनापूर्वक मनाया जायेगा। उसी प्रकार ता. ५-९-२०२५, शुक्रवार से ता. ७-९-२०२५, रविवार तक तीन दिन 'रत्नत्रयधर्म' पर्व भी मनाया जायेगा ।

❀ **उत्तम क्षमावणीपर्व :** आश्विन कृष्णा प्रतिपदा, सोमवार, ता. ८-९-२०२५ के दिन क्षमावणीपर्व क्षमावणीपूजा, सांवत्सरिक आलोचना एवं भक्तिपूर्वक मनाया जायेगा।

❀ मंगल पत्रिका लेखनविधि ❀

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनका ११२वाँ वार्षिक जन्मोत्सव श्री बृहद् मुंबई दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा मनाया जानेवाला है, उसकी निमंत्रण पत्रिका लेखनविधि ता. ६-७-२०२५ रविवारके दिन सुवर्णपुरी (सोनगढ़)में विभिन्न मुमुक्षुमंडलोंके सदस्योंकी उपस्थितिमें सानंद संपन्न हुई । सुबह नंदीश्वर जिनालयमें पूजन पश्चात् सभी मुमुक्षु आत्मार्थी श्री विपुलभाई शांतिलाल मोदीके निवासस्थान गये थे, वहाँ भक्तिसह पत्रिकाकी बधाई की गई, पश्चात् वहाँसे गाजे-बाजेके साथ भक्तिसह पत्रिकाको पूज्य बहिनश्रीके निवासस्थान होकर परमागममंदिरमें लाया गया। वहाँ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन पश्चात् पत्रिकाका वांचन श्री निशांतभाई विपुलभाई मोदी द्वारा किया गया। पश्चात् पत्रिका लेखन विधि भक्तिमय वातावरणमें संपन्न हुई । इस प्रसंग पर निमंत्रण पत्रिकाको विशेषरूपसे सजाया था। निमंत्रण पत्रिकाका लेखविधिके सौजन्यका लाभ आत्मार्थी श्री विपुलभाई शांतिलाल मोदी परिवारको मिला था। इस प्रसंग पर सोनगढ ट्रस्टके ट्रस्टीगण, बृहद् मुंबई मंडलके सदस्य एवं बाहरगाँवसे अधिक संख्यामें मुमुक्षु पधारे थे ।

पूज्य गुरुदेवश्रीके हृदयोद्गार

● आत्मा शुद्धचिदानन्दमूर्ति है - उसकी रुचि करने और राग तथा व्यवहारकी रुचि छोड़ने पर जिस क्षण आत्माके आनन्दका अनुभव होता है, वही निश्चय रत्नत्रय है। बिचमें शुभराग आने पर भगवानकी प्रतिमाके प्रति बहुमान-भक्ति-भाव आता है, क्योंकि स्वसंवेदनरूप वीतरागी-मुद्रा देखने पर स्वयंको अपने स्वसंवेदन-भावरूप निजस्वरूपका विचार उठता है। मेरा आत्मा, रागसे अथवा परसे अनुभवमें आने योग्य नहीं है, किन्तु ज्ञानसे ही स्वसंवेदनमें अनुभूत होने योग्य है। ऐसे भानपूर्वक भगवानकी वीतराममुद्रा देखकर स्वयं उसका विचार करता है कि अहो! भगवान इस स्वसंवेदन द्वारा ही रागको टालकर चिद्‌बिंब, जिनबिम्ब, निष्क्रिय वीतरागी हुए — मेरा स्वरूप भी वैसा ही ''चिद्‌बिम्ब—जिनबिंब है'' ।७०१।

● अरे जीवों! लीन हो...जाओ...उपशमरसमें डूब जाओ ! भगवानकी प्रतिमा ऐसा उपदेश देती लगती है; अतः स्थापना भी परमपूज्य है। तीनोलोकमें शाश्वत-वीतराग-मुद्रित जिन-प्रतिमा है। जैसे लोक अनादि-अकृत्रिम है, लोकमें सर्वज्ञ भी अनादिसे है; वैसे ही लोकमें सर्वज्ञकी वीतराग-प्रतिमा भी अनादिसे अकृत्रिम-शाश्वत है। जिन्होंने ऐसी प्रतिमाजीकी स्थापनाको उड़ा दिया है, वे धर्मको समझे ही नहीं हैं। धर्मी जीवको भी भगवानके जिनबिंबके प्रति भक्तिका भाव आता है।७०३।

● स्वभाव-सन्मुखताकी शांति द्वारा कषायकी अग्नि बुझती है। वर्षासे अग्नि बुझ जाती है। भगवानने भी वैसे ही स्वसन्मुखी-मोक्षमार्गकी वर्षा की, वही संसाररूपी दावानलको बुझानेका साधन है। अन्तरस्वभावकी सन्मुखता होनेसे शांतिरूप जलकी वर्षा द्वारा अनादिके संसार-दावानलका नाश होता है।७०४।

● इष्टता-अनिष्टता ज्ञानमें नहीं, वैसे ही ज्ञेयमें भी नहीं। यह कस्तूरी है अतः इष्ट है, यह विष्टा है अतः अनिष्ट है—इस प्रकार इष्ट-अनिष्टरूप मानना, ज्ञानका स्वभाव नहीं है; वैसे ही ज्ञेयोंका भी ऐसा स्वभाव नहीं है।७०५।

● प्रश्न :—ज्ञान हेय-उपादेय(का भेद) तो करता है न?

समाधान :—चारित्र-अपेक्षासे ऐसा उपचार तो होता है। ज्ञान तो सबको मात्र जानता है। परको जानता है—ऐसा कहना तो व्यवहार है, क्योंकि वह (ज्ञान) परमें तन्मय हुए बिना जानता है।७०६।

Posted at Songadh PO
Publish on 5-8-2025
Posted on 5-8-2025

Registered Regn. No. BVR-368/2024-2026
Renewed upto 31-12-2026
RNI Registration No. GUJHIN/2006/18882
वार्षिक शुल्क 9=00 आजीवन शुल्क 101=00

Printed & published by Navin Popatlal Shah on behalf of shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust and Printed at Smruti Offset, 13, Kahanwadi, Ankur School Road At-Songadh Pin-364250 and published from Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust At-Songadh, Ta. sihor, Dist. Bhavnagar Pin-364250.

Editor : Rameshchandra Vrajlal Shah.

If undelivered Please return to :—
Shri Dig. Jain Swadhyay Mandir Trust
SONGADH-364 250 (INDIA)
Phone No. (02846) 244334
Fax (02846) 244662

www.kanjiswami.org
email : contact@kanjiswami.org